आनन्द बोध

*3.1

जुलाई 2005

जुलाई 2005
वर्ष 22 अंक 4

सम्पादक : विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

अनुक्रम

प्रकाशक :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा-संस्थान

कार्यालय :
आनन्द कानन
सीके. 36/20, ढुण्ढिराज
वाराणसी-221001
फोन : (0542) 2392337

सदस्यता शुल्क		
वार्षिक	:	50.00
आजीवन	:	1100.00
संरक्षक	:	2500.00
प्रति	:	5.00

शाखा कार्यालय :
अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर
मोतीझील, वृन्दावन (मथुरा)
फोन : (0565) 2540481

विक्रय शाखा : सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, 28/16 बी. जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-6 ● फोन : (022) 23682055

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।
न बिभेति कुतश्चन।।

आनन्द बोध

जुलाई * वर्ष 22 (2005-06) अङ्क 4 (पूर्णाङ्क 259) * 2005

सरस्वती

आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम्।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि त्वाम्॥ 1॥

दसों दिशाओंमें जिसकी अङ्गरूपी लताएँ फैली हैं, जिसने अपनी देहके उजलेपनसे दूधके समुद्रको भी नीचा दिखा दिया है और जिसकी मन्द मुसकान देखकर शरद्का चन्द्रमाभी लजा जाता है, ऐसी हे कमलपर बैठी हुई अत्यन्त सुन्दरी सरस्वती देवी! मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ 1॥

—श्रीनारायण स्वामी

आनन्द-निधि

भगवान् करुणा-वरुणालय हैं। वे अपने भक्तके अपराधको सम्भाल लेते हैं, भक्तकी त्रुटिको अपनी त्रुटि समझते हैं।

भगवान् राम अयोध्यामें विराज रहे थे। विभीषण लंकाका शासन कर रहे थे। वे शिव भक्त थे। नित्य प्रातः लंकासे पैदल चलकर श्रीरङ्गक्षेत्र आते और जम्बुकेश्वर महादेवका पूजन-अर्चन कर लौट जाते। यही उनका नित्यका क्रम था। एक दिन त्वरामें उनके पैरकी ठोकर लग जानेसे मार्गमें बैठा हुआ एक वृद्ध ब्राह्मण मर गया। नगरमें कोलाहल मच गया। विभीषण पकड़ लिये गये। जंजीरोंसे बाँधकर उन्हें बन्दीगृहमें डाल दिया गया। अनेक प्रकारकी यन्त्रणायें दी गयीं; किन्तु वे मरे नहीं। भगवान्की कृपा और वर उन्हें प्राप्त जो थे। लौटकर जब वे लंका नहीं पहुँचे, अनेक दिन बीत गये, सभी पुरवासियोंको चिन्ता हुई। संवाद अयोध्या पहुँचा। भगवान् श्रीराम सुनकर उदास हो गये। शिवजीने यह बात उन्हें बतलायी। भगवान् करुणावरुणालय हैं। अपने भक्तका संकट उनसे देखा न गया, स्वयं श्रीरङ्गक्षेत्र पहुँचे। ब्राह्मणोंने राक्षसराज विभीषणको उनके सम्मुख उपस्थित किया और प्रार्थना की—'इसने ब्राह्मणकी हत्या की है, हमारे मारनेसे यह मरा नहीं। आप चक्रवर्ती सम्राट् हैं, आप न्याय करें और इसे दण्ड दें।'

भगवान्ने कहा—'ब्राह्मणो! लोकमें यही प्रसिद्ध है कि सेवकका अपराध स्वामीका ही होता है। इस विधानके अनुसार विभीषणके अपराधका दण्ड मुझे मिलना चाहिए, क्योंकि यह मेरा भक्त है। इसका अपराध मेरा अपराध है। मेरा मरना कहीं अच्छा है, मेरे भक्तका नहीं—

> **वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।**
> **राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥**
> **भक्तापराधे सर्वत्र स्वामिनां दण्ड इष्यते।**

भगवान्की करुणापूर्ण वाष्पगद्‌गद वाणी सुनकर सभी सभासद विह्वल हो गये। 'धन्य-धन्य', 'जय-जय'के तुमुल घोषसे आकाश गुंजरित हो उठा। विभीषण मुक्त कर दिये गये।

—महाराजश्री
(सं०—नारायणी)

ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा जन्म शताब्दी महोत्सव

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री : श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

(पूर्वानुवृत्त, जून 2005)

सो महाराज अपना नाम सुनकरके भगवान्‌की भूल ऐसी जगी यह मुग्धा शक्ति है, वे भूल गये सब वेद शास्त्र पुराणको, भूल गये मनुस्मृतिको, यह भागवत धर्म इसका नाम है।

परायेन वेद तदिदं देव्या विमोहित मूर्तिं बत

मधु पुष्पितायाम् वैतानिके

यह बड़े-बड़े महापुरुष इस रहस्यको नहीं जानते हैं भगवान्‌का जब कोई नामोच्चारण करता है तो भगवान् भूल जाते हैं कि इस नामका कोई दूसरा भी है एक तो भगवान्‌को यही ज्ञान नहीं है, यह ज्ञान नहीं है अज्ञान है क्या? कि मेरे सिवाय दूसरा कोई है, यह ज्ञान भगवान्‌को है ही नहीं।

मत्प न किंचिदन्ये

एक तो भगवान् जानते हैं कि मेरे सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं और फिर यह नाम किसी दूसरेका है मेरा नहीं है, यह काम तो भगवान्‌को कभी आता ही नहीं है, इसलिए महाराज यह भगवान्‌की है। पर एक बात है बाबा इसके सम्बन्धमें बड़ी बात बताते थे, माला झोली तो हम सब लोग भी रखते हैं। वह कहते थे कि देखो, बड़े आदमीसे चौबीस घण्टेमें अगर एक बार भी डटाडट हाथ मिला लिया जाये न, तो गौरव बना रहता है कि हमारे गाँवके एक सज्जन थे उन्होंने पंचम जार्जसे हाथ मिलाया था और बुढ़ापेमें, महाराज, हम लोगोंको कुछ समझते ही नहीं थे, कहते थे तुम क्या होते हो हमने पंचम जार्जसे हाथ मिलाया है, एक बार मिलाया होगा, एक बार मिलाया होगा बस।

एक बात आपको सुना देते हैं, आप भगवान्‌का नाम लेते हैं, भगवान्‌के धाममें रहते हैं, सत्संग करते हैं, महात्माओंसे मिलते हैं और फिर यह भी समझते हैं कि मैं बड़ा भारी पापी हूँ, विनयकी दृष्टिसे बहुत अच्छा है, आपमें दीनताका भाव है, परन्तु भगवान्‌का नाम लेनेके बाद भगवान्‌के धाममें आनेके बाद, महाराज हमारे महाराजजीकी दृष्टि एक बार पड़नेके बाद, तद्दृष्टि गोचरा सर्वेमुच्यन्ते, उनकी नजरमें जो एक बार आगया वह मुक्त हो गया। उन्होंने स्पष्ट स्पष्टम् कहा, रजिस्टर कोई नहीं था उनके पास पर बोलते ऐसे थे, बोलते हमारे रजिस्टरमें जिसका नाम लिख गया वह मुक्त हो गया, अब उसके लिए बन्धन नहीं है, ऐसा उन्होंने कहा है।

हमने पूछा महाराज विदेह मुक्ति बढ़िया कि जीवन्मुक्ति बढ़िया? तो बोले कि दोनोंकी कल्पना ही अमंगल है। मरनेके बाद जीवन्मुक्ति होगी कि विदेह मुक्ति होगी, यह कल्पना ही मत करो। समझ लो परमात्मा उल्लसित हो रहा है रसोलस हो रहा है। नाच रहा है। एजतिका अर्थ है क्या हड्डु हिल रही है क्या भौंह हिल रही है। एजति माने कंपते होता है। क्या कमर हिल रही है, तदेजति तन्नेजति क्या स्थिर बैठा हुआ है तद्दूरे वह ही गया दूर वह नाचता हुआ वह दूर गया, तद्वन्तिके नाचता हुआ पास आगया तदन्तरस्य सर्वस्य—इस गोपी मण्डल मध्यमें वही नृत्य कर रहा है।

अङ्गनामनामन्तरे माधवो

माधवं माधवं चान्तरणाङ्गना

तदुर्स्वस्यास्य बाह्यतः

वही बाहर वही भीतर, वही दूर वही निकट, वही कम्पनशील वही अकम्पन, वही अस्पन्द, वही सस्पन्द

वही निस्पन्द, यह जो परमात्माका स्वरूप है, वह सब वेद शास्त्र, उपनिषद्, पुराण, इतिहासका मन्थन करके उसका जो सार-सार होता है, नवनीत होता है वह उन्होंने प्रकट किया है, और अभी तो मैं समझता हूँ कि यह प्रसंग यह हमारे निश्छलानन्दजी महाराज तो प्राय: यहीं विराजते हैं इनका सत्संग तो रोज होता ही रहता है और भी कई महात्मा हैं जिनका रोज कथा प्रवचन होता है, मैं भी अभी जबतक डोंगरेजी वृन्दावन रहनेका संकल्प रखेंगे तबतक मैं भी रहूँगा सो आप लोग जैसे आज आये हैं वैसे ही कल प्रात: काल रास भी होगा। प्रात:काल रास होगा विद्वानोंका, विद्यार्थियोंका सत्कार करनेवाले हैं डोंगरेजी, वे लोग भी पधारेंगे तो आप लोग इसी तरह बड़े प्रेमसे यहाँके कार्यक्रममें भाग लेते रहिये।

नारायण, यह आँखका खुलना लक्ष्मीजीका श्रीरामानुजाचार्यको संगीत देना और उनके संकेतसे, यह जो मनुस्मृति है हृदयमें जो अनुचिन्तन है वह हृदयको पवित्र करेगा। यह श्रीरामानुज सम्प्रदायकी बात बतायी।

अब उसके बाद रोज उसके लिए क्रिया योग हो गया उसका नाम क्रिया योग है क्रिया नहीं केवल क्रिया तो रुई बनानेमें भी होती है, और कपड़ा बनानेमें भी होती है, चावल बनानेमें भी होती है, झाड़ू लगानेमें भी होती है परन्तु जो क्रिया हो वह परमेश्वरके लिए हो, सर्वान्तर्यामी सर्वशरीरी सर्वज्ञ परमेश्वरके लिए हमारी क्रिया होने लगे तब उसका नाम क्रिया योग होता है।

तो क्रिया होती है बाहर और योग होता है भीतर और दोनों मिलकरके हमारी जो चित्तवृत्ति है उसको नारायणमें खींच लेते हैं तो जब यह क्रिया योग होता है तब ईश्वर कैसा है, सर्वज्ञ है सर्वशक्ति है, अन्तर्यामी है नियन्ता है और फिर धीरे-धीरे उसकी शरणागति हो जाती है और शरणागति हो जानेके बाद फिर क्रिया योगकी अपेक्षा नहीं रहती है, उससे मुक्ति होती है।

इसी तरह श्रीवल्लभाचार्यजीके सम्प्रदायमें पहले मर्यादा मानी जाती है और फिर पुष्टि मानी जाती है। क्रिया योग और शरणागति यह रामानुजाचार्यका मत है और मर्यादा और पुष्टि यह वल्लभाचार्यजीका मत है। तो उनके यहाँ भी पहले ये मर्यादित लोग जो होते हैं वह महाराज इतना कपट, अपरस मनाते हैं इतना स्नान करते हैं, दूसरेका लाया हुआ पानी नहीं पीते हैं जिसको कण्ठी न हो और जिसने संस्कार अपना न कराया हो उसका छुआ पानी नहीं पीते हैं बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करते हैं, अपने हाथसे रोटी बनाते हैं अपने हाथसे कुएँसे पानी लाते हैं और यह हम भगवान्‌की सेवाके लिए कर रहे हैं पहले मर्यादी बनते हैं फिर पुष्टिको वे स्वीकार करते हैं और हम भगवान्‌के शरणमें हैं, इससे व्यक्तिके अन्त:करणकी शुद्धि होती है। समाजसेवा दूसरी वस्तु होती है, और व्यक्तिके अन्त:करण शुद्धिकी प्रक्रिया दूसरी होती है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें एक वैधी भक्ति होती है और एक प्रेम लक्षणा भक्ति होती है। तो वैधी भक्ति जो है वह आज्ञा मानकर शास्त्रकी गुरुकी आज्ञा मानकर रोज वह काम करना पड़ता है उतना जप करना है, उतनी पूजा करनी है। श्रीराधारमणजीकी सेवा देखो कैसे होती है। श्रीराधारमणजी महाराज कपड़ा पहनकर भोजन नहीं करते हैं, कपड़ा उतारकर और हाथ पाँव धोकर और वह सिंहासनपर बैठे-बैठे नहीं करते हैं, यहाँ तो लाकर थाली रख देते हैं न सारा अपरस हो गया, श्रीराधारमणजी महाराज कपड़े बदलते हैं, हाथ पाँव धोते हैं और चौकेमें जाते हैं और पाटेपर बैठकर पाटेपर जो उनको थाल लगायी जाती है वह भोजन करते हैं और वह गोस्वामी लोग जो हैं वह कोई सिला कपड़ा नहीं पहनते हैं, अपरसका रेशमी कपड़ा पहनकर स्नान करके तब छूते हैं। यह जो उनके यहाँ इतनी वैधी, यह वैधी भक्ति है यह जो वैधी भक्तिका अनुष्ठान है इससे फिर प्रेमलक्षणा भक्तिका उदय होता है और

प्रेम लक्षणा भक्ति फिर पराभक्ति हो जाती है। इसकी चर्चा थोड़ी देरके बाद करते हैं।

श्रीमध्वाचार्यके यहाँ भी श्रीरामानुजाचार्यके समान ही क्रिया योग है और वह पारन्त्र्यका अनुसन्धान करते हैं कि यह जीव और जगत् बिलकुल स्वतन्त्र नहीं है और अन्तमें उनके यहाँ भी भगवान्की शरणागति आती है।

श्रीनिम्बार्काचार्यजीके यहाँ तो बहुत ही कर्मकाण्ड है क्योंकि जो 'क्रमकी टीका' नामकी पुस्तक है इनके सम्प्रदायमें, वेदान्त सिद्धान्त मंजूषा है क्रमकी टीका है।

तो अब कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि इसे क्रिया योग कहो, वैधी भक्ति कहो, सेवा कहो, वल्लभ सम्प्रदायमें सेवा कहते हैं : वह सेवा भी वित्तजा, तनुजा और मानसी—तीन प्रकारकी सेवा होती है-धनसे सेवा शरीरसे सेवा और मनसे सेवा। तो यह सब असलमें भक्तिमें है क्या, यह जो लोग कहते हैं कि हुकुम दे देनेसे हमको भक्ति आजायेगी यह नहीं, भक्तिको अपने अन्तःकरणमें आनेके लिए एक वाहनकी आवश्यकता पड़ती है। न वह सभामें व्याख्यान सुननेसे आती है और न तो 'भक्त हूँ मैं' यह अभिमान धारण करनेसे आती है और ना तो कोई टाईटल दे दे, डिग्री दे दे कि आप भक्तराज हैं तो उससे आती है।

तो भक्तिको हृदयमें लानेके लिए जो क्रिया कलाप करना पड़ता है वह सब भक्तोंके सम्प्रदायमें तो है ही, श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजके सम्प्रदायमें जो अन्तः-करणशुद्धिकी साधना है उसपर आप थोड़ा-सा ध्यान दें। धर्म उपासना औरं योग यह परम्परया अन्तःकरण शुद्धिके साधन हैं और विवेक वैराग्य शमदमादि जो हैं ये अन्तःकरण शुद्धिके तो साक्षात् साधन हैं परन्तु तत्वज्ञानके परम्परया हैं ये दोनोंमें फर्क है माने तत्वज्ञानमें बहिरंग हैं। अन्तरङ्ग साधन श्रवण मनन आदि हैं। अच्छा श्रवण मनन आदिमें भी जो महावाक्यार्थका, तत्वं पद लक्ष्यार्थकी एकताका जो साक्षात्कार है वह साक्षात् साधन है और उससे पहले जो श्रवण मनन आदि हैं वह अवान्तर साधन हैं। साक्षात्कारके अवान्तर साधन हैं। यदि शुद्ध अन्तःकरण होवे तो श्रवण मात्रसे साक्षात्कार हो जावे, मनन, निदिध्यासनकी जरूरत ही नहीं परन्तु यदि अन्तःकरण बिलकुल तैयार न हो तो उसमें देर लगती है। तो होता यह है कि अन्तःकरण शुद्धिके बिना जीवनमें न तो भक्तिकी प्रतिष्ठा हो सकती अन्तःकरणमें और न तत्त्वज्ञानकी योग्यता। इसलिए अन्तःकरणकी शुद्धि और अन्तःकरणकी शुद्धि विशेष धर्मके द्वारा होती है, सामान्य धर्मके द्वारा नहीं होती। क्योंकि उसका उद्देश्य जो है न, सामान्य धर्म यदि समाज सेवा या मानवताकी सेवाका अन्तर्राष्ट्रीयताकी सेवा उसका लक्ष्य होगा तो सेवा तो बहुत बढ़िया चीज है परन्तु उसका जो मुँह है, मोटर बाहरकी ओर जारही है, मोटर तो बिलकुल ठीक है और ठीक जगहसे सड़कसे चलरही है परन्तु वह जारही है बाहरकी ओर, भीतरकी ओर नहीं जा-रही है। इसलिए समाजसेवी लोगोंका जो विधान है वह दूसरा है और अन्तःकरण शुद्ध करके अन्तर्यामी परमेश्वरकी शरणमें होना, अथवा शुद्धान्तःकरण होकरके महावाक्यार्थका साक्षात्कार करना वह यह दूसरा प्रसंग आजाता है।

तो अन्तःकरणशुद्धिमें और तत्त्वसाक्षात्कारमें जो बहिरंग और अन्तरंगका भेद है इसका भी कारण है जैसे आप गिलास माँजते हैं पानी रखनेके लिए, तो गिलास माँजते हैं तो बहुत ठीक करते हैं पानी रखा जाये यह भी बहुत बढ़िया है, परन्तु पीनेके समय वह ठीक मुँहमें लगे और मुँहके भीतर जाये यह भी तो आवश्यक होगा न। तो गिलास माँजना और उसमें पानी भरना यह बहिरंग साधन है और मुँहमें लगाकर उसको पीना यह अन्तरङ्ग साधन है। माने उसकी गति हमारे हृदयकी ओर, हृदयको तृप्ति देनेके लिए, तुष्टि-पुष्टि क्षुध पानेके लिए उसका प्रयोग होना चाहिए तो यह तो शमदमादि हैं यह संसारके निवर्तक हैं और श्रवण मनन जो हैं वह तत्त्व वस्तुके बोधक हैं। समझो कि बन्दूकमें,

पहले हमने देखा था पुराने जमानेमें बन्दूक चलाने वाले लोग, उसमें न जाने क्या-क्या डालकर एक लोहेकी इतनी बड़ी छड़ होती थी उससे खूब उसको साफ करते थे, तो बन्दूककी नलीको साफ करना दूसरी चीज है और उसमें गोली भरनेके बाद वह जिसको मारना है वह कहाँ है ठीक लक्ष्यपर दृष्टि जाना यह दूसरी बात है। तो यह जो अन्तःकरण शुद्धिके साधन हैं वह तो बन्दूककी नली साफ करना इसके समान है और जिनको लक्ष्यार्थका ज्ञान है यह तो बिलकुल लक्ष्यपर निशाना लगानेके समान है। तो बन्दूकको साफ करना यह बहिरंग हो गया और वस्तुको देखना यह अन्तरङ्ग हो गया। हम कहते हैं आँखसे कोई चीज पढ़ना चाहते हैं परन्तु आँखपर कोई ऐसा पानी आगया है कि नहीं देख पाते, एक दवा डाल दी आँखमें तो आँख साफ हो गयी तो आँखको साफ करना यह बहिरंग साधन है परन्तु आँख साफ होनेपर भी जिस चीजको देखना है उसको अगर नहीं देखेंगे तो वह साफ की हुई आँख भी तो बेकार गयी न! साफ की हुई आँखकी सफलता तब है जब जिस चीजको देखनेके लिए आँख साफ की गयी है वह चीज देखी जाये।

तो अब यह है श्रीरामानुज श्रीवल्लभ, श्रीनिम्बार्क, श्रीमध्व, श्रीचैतन्य महाप्रभु, ये जितने भी हमारे आचार्य हुए हैं, शैव श्रीकंठ, श्रीकर आदि, शाक्त, गाणपत, सौर, सब आचार्योंका कहना है कि अन्तःकरण शुद्धिके लिए जो आप क्रिया कलाप करें वह बाह्य दृष्टिसे न हो, अपने अंतःकरणसे अनियन्त्रण जो है अपनी मनोवृत्तियोंपर उसको दूर करनेके लिए हो। और वासनाओंको, अन्यन्त्रण दूर होनेपर भी वासनाएँ रहती हैं। हम अपने मनको रोक सकते हैं लेकिन वासनाएँ सब-का-सब भरी रहती है। तो अनियन्त्रण दूर हो और वासनाएँ दूर हो यह दोनों बात आती है आसन प्राणायामके द्वारा हम अनियन्त्रणको तो दूर कर सकते हैं परन्तु वासनाको दूर करनेके लिए वैराग्य होना आवश्यक है। यदि वैराग्य नहीं होगा तो वासना दूर नहीं होगी अब यह तो, हमारे तो श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज वैराग्यपर जितना जोर देते थे, उनका तो कहना था वैराग्यके बिना एक कदम भी कोई परमार्थके मार्गमें नहीं चल सकता ये जो लष्टम-पष्टम चेलोंकी संख्या बढ़ायी जाती है यह उनको बिलकुल पसन्द नहीं थी बल्कि कई लोगोंको तो उन्होंने दूसरोंके पास भेज दिया, ऐसे कह दिया कि तुम्हारे गुरु वह हैं उनके पास जाकर तुम उनसे दीक्षा लो, ये हमारे गोविन्द दासजी जो हैं ये कलाधारियोंके अधिकारी थे, इन्होंने चार दिन या पाँच दिन कर्णवासमें अनशन किया था महाराजजीकी कुटियाके पीछे बैठकर कि हमको आप मन्त्र दीक्षा दे दीजिये, शिष्य बना लीजिये, महाराजजीने कहा कि 'बेटा मैं तुम्हारा गुरु हूँ ही नहीं, तुम्हारे गुरु तो कलाधारीके महन्त हैं उनके पास जाओ और उनसे दीक्षा लो।' महाराजजीने भेजा था उनको। पाँच दिन-चार दिन तक वह बिना अन्न जलके अनशन करके कर्णवासमें महाराजजीकी कुटियाके पीछे बैठे रहे कि हमको आप मन्त्र दीक्षा दे दीजिये महाराजजीने कहा कि 'नहीं'।

तो यह जो शिष्य संग्रह है यह संन्यासीके लिए तो वर्जित है ही, संग्रह, शिष्य संग्रह। और यह तो संख्या जो बढ़ाना है इसपर तो विशेष ध्यान देने योग्य होता है।

अच्छा गुरु और शिष्यका मत यदि दो हो गया, तो शिष्यको चाहिए कि अपनी मतिको दबाकर गुरुकी मतिके साथ अपनी मतिको मिलावे, और यदि मत न मिले तो फिर गुरु शिष्यका जो सम्बन्ध है न उसमें दरार पड़ जाती है, टूट न जाये तो भी, यदि गुरु बहुत कृपालु हो और मतभेद होनेपर भी अपनी ओरसे उसका परिवर्जन न करे, तन्त्र शास्त्रमें एक परिवर्जनकी क्रिया है। शिष्य बनानेके बाद भी शिष्य गुरुके अनुकूल न चले तो गुरु एक अनुष्ठान करता है कि अब ये हमारा शिष्य नहीं रहा इसके पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म, साधन-असाधनकी कोई ज़िम्मेवारी हमारे ऊपर नहीं रही, यह परिवर्जनक क्रिया होती है।

(सावशेष)

वैराग्य

डॉ० अमरनाथ पाण्डेय

वैराग्यका निरूपण योगशास्त्र तथा अन्य दर्शनोंमें मिलता है। यहाँ योगशास्त्रकी दृष्टिसे कुछ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। पतञ्जलि वैराग्यके स्वरूपपर प्रकाश डालते हैं—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' 1.15। इस संसारमें अन्तःकरण तथा इन्द्रियों द्वारा भोगे जाने वाले विषय दृष्ट कहे जाते हैं। स्वर्ग आदिमें भोगे जानेवाले विषय आनुश्रविक कहे जाते हैं। गुरुमुखसे सुना जाता है, अतः अनुश्रव—वेद कहा जाता है। उससे प्राप्त होनेवाला, ज्ञात होनेवाला विषय आनुश्रविक कहा जाता है। दोनों विषयोंका परिणाम दुःख ही है। इस प्रकारके ज्ञानसे जिसका लोभ नष्ट हो गया है, ऐसे चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था विशेष है—ये विषय मेरे वशमें हैं, मैं इनके वशमें नहीं—इस प्रकारका जो विमर्श है, वह वैराग्य कहा जाता है—'अनुश्रूयते गुरुमुखादनुश्रवो वेदः, ततः आगत आनुश्रविकः। तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणाम-विरसत्वदर्शनाद् विगतगर्द्धस्य या वशीकारसंज्ञा 'ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्यः' इति योऽयं विमर्शः, तद् वैराग्यमुच्यते।'—भोजवृत्ति।

व्यासभाष्यमें विशेष व्याख्या मिलती है। स्त्री, अन्नपान, ऐश्वर्य—ये दृष्ट विषय हैं। ये इन्द्रियोंको सुख प्रदान करते हैं। दूसरे विषय आनुश्रविक कहे जाते हैं। इसमें स्वर्गसुख, वैदेह्य तथा प्रकृतिलयत्वकी चर्चा की गयी है। वैदेह्य सुख वह दशा है, जब केवल संस्कार शेष रह जाते हैं। योगी स्वसंस्कारमात्रसे उपयोगमें आनेवाले चित्तसे मोक्ष-जैसे सुखका अनुभव करते हैं। 'स्वर्गश्च वैदेह्यं च प्रकृतिलयत्वं च तेषां प्राप्तिरेवानु-श्रवाख्यवेदोक्तो विषयस्तत्र च वितृष्णस्येत्यर्थः।' योगवार्तिक। स्थूल देहके न रहनेपर भी लिङ्ग शरीरसे जिन देवोंका भोग होता है। वे विदेह कहे जाते हैं। तद्रूपता ही वैदेह्य है। जो प्रकृतिमें लीन हो गये हैं, वे प्रकृतिलय कहे जाते हैं। प्रकृतिलयका विदेहसे भेद इस प्रकार है—विदेह तो सावरण ब्रह्माण्डान्तर्गत ही अल्प ऐश्वर्यका भोग करते हैं, जबकि प्रकृतिलय बहिर्गमनसे विदेहोंसे उत्कृष्ट हो जाते हैं और अपने संकल्पमात्रसे निर्मित विषयका भोग करते हैं—'प्रकृतिलयानां च विदेहेभ्योऽयं भेदः। विदेहाः सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता एवाल्पमैश्वर्यं मलिनं च विषयं भुञ्जते, प्रकृतिलयास्तु बहिर्गमनेन विदेहान् प्रत्यपीशते स्वसंकल्पमात्रेण तत्रैव निर्मलं, कारणसत्त्वनिर्मितं विषयं च भुञ्जते त ईश्वरकोट्य उच्यन्ते।'—योगवार्तिक।

जब उक्त सभी विषयोंमें वितृष्णा हो जाती है, तब उसे वैराग्य कहते हैं। रागद्वेष शून्य वशीकारसंज्ञा जो वितृष्णा है, वही वैराग्य है।

इस सूत्रसे ही तन्त्रान्तरसिद्ध चार संज्ञाओंका निर्देश हो जाता है—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। यतमानसंज्ञा तो वितृष्णाज्ञानपूर्वक वैराग्यसाधनका अनुष्ठान है। इस संसारमें क्या सार है, क्या असार है—इसे गुरु तथा शास्त्रसे जानूँगा—इसके लिए जो उद्योग होता है, वह यतमानसंज्ञा है (मधुसूदन सरस्वती 6.35 गीताभाष्य)। इन इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, इन्हें वशमें करना है—इस प्रकार व्यतिरेकसे जो अवधारणकी योग्यता है, वही व्यतिरेकसंज्ञा है—'सा च जितान्येतानीन्द्रियाणि, एतानि च जेतन्यानीति व्यतिरेकावधारणयोग्यता।'—योगवार्तिक। जब इन्द्रियप्रवर्तनामें कषाय असमर्थ हो जाते हैं, तब पक्व कषायोंका औत्सुक्यमात्रसे मनमें व्यवस्थान एकेन्द्रियसंज्ञा है—'इन्द्रियप्रवर्तनासमर्थतया पक्वा-नामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थानेकेन्द्रियसंज्ञा।'—तत्त्ववैशारदी। औत्सुक्यमात्रकी भी निवृत्ति उपस्थित

दिव्यादिव्य विषयोंमें उपेक्षाबुद्धिः वशीकारसंज्ञा है। मनमें भी तृष्णाशून्यतासे जो सब प्रकारसे वितृष्णा है, तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्ति है, वही ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारसंज्ञा वैराग्य है। वह सम्प्रज्ञातसमाधिका अन्तरङ्ग साधन है, असम्प्रज्ञातसमाधिका बहिरङ्ग साधन है। असम्प्रज्ञात समाधिका अन्तरङ्ग साधन तो परवैराग्य है—'मनस्यपि तृष्णाशून्यत्वेन सर्वथा वैतृष्ण्यं तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्, सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्ग साधनमसम्प्रज्ञा-तस्य तु बहिरङ्गम्। तस्य त्वन्तरङ्गसाधनं परं वैराग्यम्।' मधुसूदन सरस्वती, गीताभाष्य 6.35।

आवरकके न होनेके कारण जब विषयोंकी सन्निधि होती है, तब दोष दिखायी पड़ जाते हैं। दोषोंके दर्शनसे वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है। दोष-दर्शनकी उत्कृष्टताके कारण विषयोंके संयोगकालमें भी चित्तकी जो आभोगरहित राग-द्वेष शून्य वशीकारसंज्ञा वितृष्णा है, वह अपरवैराग्य है।

सर्वदर्शन सग्रहमें कहा गया है कि प्रकाश-प्रवृत्तिरूप वृत्तिरहित चित्तका स्वरूपनिष्ठ परिणामविशेष स्थिति है। उस स्थितिके लिए यत्न करना अभ्यास है। एहिक तथा पारलौकिक विषयादिमें दोषदर्शनके कारण अभिलाषरहित चित्तका—ये मेरे वशमें हैं, मैं इनके वशमें नहीं—इस प्रकारका विचार वैराग्य है। समाधिके विरोधी क्लेशको शिथिल करनेके लिए तथा समाधि-प्राप्तिके लिए योगीको योगविधानमें तत्पर होना चाहिए, क्योंकि क्रियायोगसम्पादनसे ही अभ्यास तथा वैराग्य हो सकता है—'प्रकाशप्रवृत्तिरूपवृत्ति रहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामविशेषः स्थितिः। तन्निमित्तीकृत्य यत्नः पुनः पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनमभ्यासः। ऐहिकपारत्रिकविषयादौ दोषदर्शनान्निरभिलाषस्य ममैते विषया वश्या नाहमेतेषां वश्य इति विमर्शो वैराग्य-मित्युक्तं भवति। समाधिपरिपन्थिक्लेशतनू-करणार्थं समाधिलाभार्थं च प्रथमं क्रियायोगविधानपरेण योगिना भवितव्यं क्रियायोगसम्पादने अभ्यासवैराग्ययोः सम्भवात्।'

—पातञ्जलदर्शन (सर्वदर्शनसंग्रह), पृ. 290-291।

भगवान् कृष्णने कहा है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

गीता 6.3

योगारूढ होनेकी इच्छा वाले योगीके लिए कर्म साधन बतलाया गया है और योगारूढके लिए साधन शम बतलाया गया है।

अपर वैराग्यमें विषयोंसे होनेवाले सुखोंमें वितृष्णा हो जाती है। योगीकी उन विषयोंके प्रति हो जाती है। वह जान जाता है कि ये विषय सुख देनेवाले नहीं हैं, ये तो वस्तुतः दुःख देनेवाले हैं।

पर वैराग्यका लक्षण इस प्रकार है—'तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'—पातञ्जलयोगसूत्र 1.16। पुरुषके ज्ञानसे प्रकृतिके गुणोंमें जो तृष्णाका अभाव हो जाता है, वह परवैराग्य है। आगम, अनुमान तथा आचार्योपदेशसे पुरुषदर्शनका अभ्यास होनेसे जो अलौकिक शुद्धि होती है, उससे विवेक-ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे विकसित बुद्धि वाला प्रकट तथा अप्रकट धर्मोंवाले सत्त्वादि गुणोंसे विरक्त हो जाता है। गुण तथा पुरुषका विवेक हो जाता है—पुरुष शुद्ध है, अनन्त है और गुण उससे भिन्न हैं—इस विचारसे योगीकी बुद्धि आप्यापित हो जाती है। अब योगी समझता है कि प्राप्त करने योग्य सब-कुछ प्राप्त कर लिया, क्षीण करने योग्य अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये, संसारका गमनागमन-क्रम छिन्न हो गया, जिसके छिन्न न होनेसे प्राणी उत्पन्न होकर मरता है और मरकर उत्पन्न होता है। यह ज्ञानकी पराकाष्ठा ही परवैराग्य है। इससे मोक्षकी प्राप्ति अवश्यम्भावी हो जाती है—'एतस्यैव यतो ज्ञानप्रसादस्य कैवल्यं नान्तरीयकं नियतम्, एतस्मिन्नेव सति कैवल्यमावश्यकं नान्यस्मिन् ज्ञाने यमनियमादौ वा वैराग्ये वा तत्सत्त्वेऽप्यसम्प्रज्ञातानुद-

येनाशेषतः प्राचीन-कर्मक्षयानियमतः कषायसम्भवतश्च मोक्षे विलम्ब-सम्भवादिति।'—योगवार्तिक।

यह वैराग्य ज्ञानकी पराकाष्ठा है। इससे कैवल्यकी प्राप्ति निश्चित हो जाती है। अन्य ज्ञान यम नियमादि अथवा वैराग्यके होनेपर भी असम्प्रज्ञात समाधिका उदय नहीं होता, प्राचीन कर्मोंका नाश भी नियमतः नहीं होता, कषायोंकी सम्भावना भी रहती है, अतः मोक्षमें विलम्बकी सम्भावना रहती है।

भोजका कथन है कि यह वैराग्यपर है अर्थात् प्रकृष्ट है। प्रथम वैराग्य, जिसका वर्णन पहले किया गया, विषयविषयक है अर्थात् दृष्ट तथा आनुश्रविक विषयवाला है अर्थात् उसकी प्राप्तिसे दृष्ट तथा आनुश्रविक भोगोंमें तृष्णा नहीं रह जाती। द्वितीय वैराग्य, जिसकी चर्चा इस सूत्रमें की गयी है, गुणविषय वाला है अर्थात् इसमें गुणोंका भी परित्याग कर दिया जाता है। यह स्थिति प्रकृति तथा पुरुषके भेदज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही होती है। यह वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधिके अत्यन्त अनुकूल होता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि अभ्यास तथा वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है—'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'—पातञ्जलयोगसूत्र 1.12। चित्तनदी दोनों ओर बहती है, कल्याणके लिए भी बहती है, पापके लिए भी। जैसे नदी कभी समुद्रकी ओर बहती है, कभी पृथिवीकी ओर, उसी प्रकार चित्त मोक्षके लिए भी प्रवृत्त होता है, पापके लिए भी। कहा गया है—

प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय निबन्धाय पराग्दृशाम्।
अपामार्गलतेवायं विरुद्धफलदो भवः॥

अन्तर्मुख दृष्टिवालोंका चित्त मोक्षका कारण होता है और बहिर्मुख दृष्टिवालोंका चित्त बन्धनका कारण। संसार अपामार्गकी लताकी भाँति विरुद्ध फल देनेवाला होता है। वैराग्यके द्वारा चित्तनदीका विषयमार्गकी ओर जानेवाला वृत्तिस्रोत निरुद्ध कर दिया जाता है तथा विवेक-दर्शनके अभ्याससे विवेकमार्गकी ओर जानेवाला वृत्तिस्रोत उद्घाटित कर दिया जाता है, जिससे निरोधरूपी कैवल्यसागरमें चित्तनदी विलीन हो जाती है। अवान्तरव्यापारभेदसे चित्तवृत्तिनिरोध वैराग्य तथा अभ्यास—दोनोंके अधीन है। गीतामें भी कहा गया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ 6.35

मन चञ्चल है और कठिनतासे वशमें होनेवाला है। अभ्यास तथा वैराग्यसे मनका निरोध किया जा सकता है।

भोजवृत्तिमें विवेचन इस प्रकार है—प्रकाश करनेवाली, कार्योंमें प्रवृत्त करनेवाली तथा नियमन करनेवाली चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास तथा वैराग्यसे होता है। उन वृत्तियोंका जो बाह्य विषयोंकी आसक्तिसे लौट आयी हैं अर्थात् जिनकी बाह्य विषयोंके प्रति आसक्ति समाप्त हो चुकी है, उनको विलोम परिणाम द्वारा अपने ही कारण चित्तमें स्थापित करना ही निरोध है। उन वृत्तियोंमें, विषयोंमें दोषोंको देखनेसे उत्पन्न होनेवाले वैराग्यके द्वारा उन विषयोंसे विमुखता उत्पन्न की जाती है। अभ्यासके द्वारा शान्त प्रवाहके प्रदर्शनके द्वारा क्लेशरहित चित्तवृत्तियोंकी दृढ़ स्थिरता उत्पन्न की जाती है।

चित्तवृत्तिनिरोधमें दोनों आवश्यक हैं—अभ्यास तथा वैराग्य। यही नहीं समझना चाहिए कि केवल अभ्याससे अथवा केवल वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध हो सकता है।

अभ्यासके अन्तर्गत निरन्तर अनुसन्धान होना चाहिए। यहाँ साधक स्वयं परीक्षण करता है और आवश्यकता पड़नेपर गुरुका परामर्श भी लेता है। प्रत्येक साधकका मार्ग भिन्न होता है। इसलिए उसकी अनुभूतियाँ भी भिन्न होती हैं। ऐसी समस्याएँ आसकती हैं, जो पहले न आयी हों, इसीलिए सतत् जागरूक रहना चाहिए। अपने स्वार्थका परित्याग होना चाहिए, आसक्तिका परित्याग होना चाहिए। ऐसा न होनेपर विश्वात्मा हमारे सामने प्रकट नहीं होगा। वैराग्यके

अभावमें मार्गपर चल नहीं सकते और अभ्यासके न होनेपर लक्ष्यतक पहुँच नहीं सकते। जो ब्रह्मको जानना चाहता है, ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए साधना कर रहा है, उसके लिए वैराग्य, शम आदि नितान्त अपेक्षित हैं। भागवत कहता है—

नानुभूय न जानाति जन्तुर्विषयतीक्ष्णताम्।
निर्विंद्येत स्वयं तस्मान् न परैर्भिन्नधीः पुमान्॥

6.5.41

मनुष्य विषयोंका अनुभव किये बिना उसकी कटुता नहीं जान सकता, अतः उनके दुःखरूप होनेका अनुभव होनेपर उसको स्वयं जैसा वैराग्य होता है, वैसा दूसरोंके बहकानेसे नहीं होता। भागवतकार यहाँ एक सूक्ष्म बातका निर्देश करते हैं। वे वैराग्यके मूलमें उस व्यक्तिको मानते हैं, जो स्वयं अनुभव करता है। अपने अनुभवसे वैराग्य दृढ़ होता है, दूसरेके कथनसे वैराग्य नहीं होता। जब तक स्वयं प्रतीति नहीं होती, व्यक्ति स्वयं नहीं देख लेता, तब तक वैराग्यका उदय नहीं होता।

जीवनका सिद्धान्त ज्ञान तथा इच्छाका समन्वित रूप है। हमारा ज्ञान हमारी प्रवृत्तिके आधारपर बदलता है। रागके कारण किसी विषयको समझनेमें भूल हो जाती है, किन्तु वैराग्यके कारण सही ज्ञान होता है।

प्राचीन तत्त्वमीमांसाकी स्थापना है कि वैराग्य, विवेक आदिके अभावमें वेदान्तका अध्ययन नहीं हो सकता। वेदान्त अनन्तका विज्ञान है। जब व्यक्ति अनन्तका साक्षात्कार करना चाहता है, तब अपनेको व्यष्टिसे पृथक् करना होगा, जो अविद्या-काम-कर्मके रूपमें विद्यमान है, अपनेको समष्टिकी ओर मोड़ना होगा, जहाँ ज्ञान-भक्ति-विरक्ति है—'The ancient metaphysics says that without the ethical qualification of vairagya, viveka, etc., Vedanta cannot be successfully studied, ...Vedauta is the science of the Infinite; all other science are of the finite. In order to enter on this realization of the Infinite, The individual must have begun to turn from 'individualism' in its triple form of avidya-kama-karma, cliuging to the finite....towards universalism in its corresponding threefold from of jnana-bhakti-Virakti'

-Dr. Bhagavan Das, the Sicence of peace, p. 60.

चाहते हैं

चाहते हैं लोग रहना किन्तु रहते हैं नहीं।
चाहते हैं लोग कहना किन्तु कहते हैं नहीं॥

चाहते हैं लोग बसना किन्तु बसते हैं नहीं।
चाहते हैं लोग सहना किन्तु सहते हैं नहीं॥

चाहते आराम सब ही किन्तु हैं बेराम से।
चाहते हैं नाम सब ही किन्तु हैं बेनाम से॥

चाहते सब ही धनी हों किन्तु धन पाते नहीं।
चाहते मन से सभी कुछ किन्तु मन भाते नहीं॥

मन मुताबिक धन नहीं फिर मन मुताबिक तन नहीं।
मन मुताबिक जन नहीं फिर मन मुताबिक छन नहीं॥

कर्म का प्रेरक सही मन वह जगत का सार है।
प्रेम युत आनन्दमय ही सत्य शिव आधार है॥

चाहते शिव, लें शरण, गुरु संत का जब भी मिले।
चाह पूरी तभी होगी, सफल तन मन धी खिले॥

—श्रीसुधाकर तिवारी

शिव चरित्र

डॉ० श्रीनाथ मिश्र

(पूर्वानुवृत्त, जून 2005)

हमारे ऐसे कोई कथावाचक कथा कह रहे थे, जो अपने स्त्रीसे न डरता हो, वो हाथ उठावें। अब कौन इतनी भीड़में सभामें नहीं उठायेगा। अगर डरता भी होगा तो भी उठायेगा। सब लोगोंने उठाया, एकने नहीं उठाया। तो कहा ये बढ़िया आदमी है अपने स्त्रीसे डरता है। तो कहा तुम तो बहुत अच्छे हो अपने पत्नीसे डरते हो। तह कहा—महाराज! हम तो अपने पत्नीसे पूछे बिना हाथ भी नहीं उठाते हैं। ये हालत है। पत्नी कह दे तो माँसे बोलना बन्द कर देते हैं, पितासे बन्द कर देते हैं, क्या-क्या हो जाता है। तुम अपनी पत्नीका खूब सम्मान करो, लक्ष्मी है, गृह लक्ष्मी है। लेकिन साथ-साथ अपने माँ-पिताका भी खूब सम्मान करो।

पार्वतीजीने पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं? तब शंकरजीने कहा कि कथा सुनने जा रहे हैं—

एक बार त्रेता जुगमाहीं। संभु गए कुंभज ऋषि पाहीं॥

कहाँ आप कहाँ सुनने जा रहे हैं! तब कहा—दण्डकारण्यमें! कुम्भज ऋषि (अगस्त्य ऋषि) दण्डकारण्यमें रहते थे—कहाँ कैलाश और कहाँ दण्डकारण्य! सतीजीने कहा कि कैलाशके शिखरपर। कैलाश इतना ऊँचा और दण्डकारण्य नीचे।

परम रम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥

कैलाश इतनी परम रम्य भूमि है, इतनी पवित्र भूमि, और कैलाशका मालिक कैलाशका निवासी दण्डकारण्य ऐसे अपवित्र जगहमें जा रहा है और आप नीचे उतर रहे हैं। तब भगवान् शंकरने कहा—देवी सती! जो कथामें नीचे उतरता है वही सुन सकता है, कथामें नीचे बैठता है वही सुन सकता है। कथाकी जब धारा चलती है नदीकी तरहसे। धारा तो आप जब नीचे रहेंगे तब धारा आपको लाभ करते हुए ओत-प्रोत करती हुई जायेगी, ऊँचे रहेंगे तो धारा आपका स्पर्श नहीं करेगी—

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुं गृह रूरे॥

कहा कथा सुननेके लिए नीचे उतरना पड़ता है। तब कहा—इतनी पवित्र भूमिसे और दण्डकारण्य इतनी अपवित्र भूमि है। जिस दण्डकारण्यके लिए प्रार्थना किया है।

दंडक बन पुनीत प्रभु करहु। उग्र साप मुनिबर कर हरहूं॥

अपवित्र भूमि दण्डकारण्य है वहाँ आप जायेंगे। तब भगवान् शंकरने कहा—जहाँ कथा होती है वह भूमि पवित्र हो जाती है। अगस्त्य कथा कहते हैं वह भूमि अब पवित्र हो गयी है, अपवित्र नहीं है। जहाँ सचमुच भगवान्‌की कथा होती है, पता नहीं इस हालका किस मुहुर्तसे बना धन्य है। प्रभुकी कृपा है। भगवान् शंकर पार्वतीजीके साथ जा रहे थे। थोड़ा आगे कुछ दूर तक गये तो जमीनमें लोटने लगे। जब उठे तो धूल धूसरित थे, पूरे शरीरमें धूल लगा था। तब पार्वतीजीने पूछा कि, प्रभु! आप यहाँ क्यों लोटने लगे? तब भगवान् शंकरने कहा पार्वती! यहाँ दस हजार वर्ष पहले कथा हुई थी, यह पवित्र भूमि है। यहाँपर कथा हुई थी। फिर आगे गये, कुछ दूर आगे जानेपर फिर लोटने लगे, तब पार्वतीजीने कहा कि यहाँ आप क्यों लोट रहे हैं। तब कहा—यहाँ दस हजार वर्षके बाद कथा होगी, इसलिए लोट रहे हैं। जहाँ कथा होती है वह भूमि पवित्र हो जाती है। परमाणु वहाँके सब पवित्र हो जाते हैं।

तीसरी बात बहुत विचित्र है जब भगवान् शंकर अगस्त्यजीके पास गये (कुम्भजजीके पास) तो कुम्भजजीने उनका पूजन किया।

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं।
संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी॥

सतीजीने कहा हमको भी ले चलिये। भगवान् शंकर ले नहीं जाना चाहते थे कि इसको श्रद्धा नहीं है। कथामें श्रोताको श्रद्धा होनी चाहिए और जो कथावाचक हो उसपर विश्वास होना चाहिए, तब कथा फल देगी। इस बातको आप समझे रहियेगा खूब अच्छी तरहसे, इसको हृदयंगम क्रर लीजियेगा। कहीं भी आप कथामें जायें तो इसका ध्यान रखियेगा। अगर आपको श्रद्धा नहीं है तो आप मत जाइये, वह कथा आपका नुकसान कर सकती है। देखिये सतीजीका कितना बड़ा नुकसान हुआ—

सुनी महेस परम सुख मानी।

भगवान् शंकर कथा सुने, सतीजी कथा नहीं सुनीं, तो जो कथा सुने उसमें श्रद्धा होनी चाहिए। ये सतीजी कथा नहीं सुनीं, क्या-क्या घटना होगयी। उसके बाद जब पार्वतीका जन्म हुआ तब वह क्या हो गयीं ? दूसरे जन्ममें यही सतीजी उमाके रूपमें आयी हैं, पार्वतीजीके रूपमें आयी हैं तब श्रद्धाके रूप होगयीं, साक्षात् श्रद्धा होगयीं। तो शंकरजी इनको ले नहीं जाना चाहते थे क्योंकि जानते थे कि सती दक्ष कुमारी हैं। दक्षकी पुत्री हैं। दक्ष माने चालाक, चालाक व्यक्ति जो होता है वह कथा नहीं सुनेगा। सुनता रहेगा तो भी कहेगा कि यह पण्डित ऐसे ही हैं, पता नहीं क्या-क्या कहता है। श्रोता चौदह प्रकारके होते हैं—कुछ ऐसे श्रोता होते हैं जो मच्छरके तरहसे होते हैं, वह भनभनाया करेंगे फिर किसीको काट लेंगे। बगलवालेसे भी कहेगा अरे चलो, क्या बैठे हो, फालतू बोलता है। भगवान् शंकर जानते हैं कि दक्षकी पुत्री है, दक्ष माने चालाक। ये चालाककी कन्या है। ये तर्क-वितर्क वाली है, ये कथाको ठीकसे नहीं सुन सकेगी। तो तर्क-वितर्कमें पड़ जाता है, जिसमें श्रद्धा नहीं है वह कथा नहीं सुन सकता है।

हमको इतना आश्चर्य हुआ। हमसे एक आदमीने पूछा कि—जब हनुमानजीके पूँछमें आग लगायी गयी तो सबसे पहले हनुमानजीके पूँछमें कौन राक्षस आग लगाया। हमारा तो होश-हवाश उड़ गया। बताइये, वहाँ लाखों राक्षस, कौन आग लगाया। ये तर्क-वितर्कवाले जो होते हैं वह ऐसा ही प्रश्न करते हैं। सोचते हैं कि पण्डितजीको डाउन कर दो कि इनको कुछ नहीं आता है। अगर इसीको बता देगा तब पण्डित विद्वान है, नहीं तो कुछ नहीं आता है। महाराजजी बताइये सबसे पहले कौन आग लगाया। अब हमारे ऊपर गुरुदेवकी कृपा हो गयी, तब हम उससे कहे कि हमको तो आप ही दिखायी पड़े। अरे ऐसा लज्जित हुआ, जितने लोग थे सब-के-सब हँस दिये। अब बताइये ये सब कोई पूछनेकी बात है—

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥

जहाँ तर्कमें आपकी बुद्धि जाती है उसके परे ईश्वर है। इसीसे जहाँ तक आपकी बुद्धि जाती है उसके बाद अन्धेरा मालूम पड़ता है। जो अन्धेरा मालूम पड़ता है उधर ईश्वरका प्रकाश है।

भगवान् शंकर सतीजीको ले नहीं जाना चाहते थे। लेकिन सतीजीने कहा—हम भी कथामें चलेंगे—तो सतीजी भी साथ-साथ चलीं-संग सती जगजननि भवानी। और ज्यों शंकरजी और सतीजी पहुँचे तो अगस्त्यजी उठ गये और पूजन किया। जब पूजन किया तब सतीजीको लगा कि कहाँ आगयी, कथावाचक श्रोताका पूजन कर रहा है। अब हम आपका पूजन करने लगे, आरती दिखाने लगे, आप लोगोंको लगेगा कि ये पण्डितजी ऐसे ही हैं, लगता है कि हमको देखकर डर गये पण्डितजी, तो ऐसे ही हैं, ये कथा क्या कहेंगे।

सतीजीने सोचा कि यह कैसा कथा वाचक है। सतीजीने शंकरजीसे कहा कि ये तो आपका पूजन कर रहे हैं, आप कथा सुनने आये हैं। आपको पूजन करना चाहिए। तब भगवान् शंकरने कहा कि हमारा पूजन नहीं कर रहा है, ये कथाका पूजन कर रहा है कि साक्षात् महादेव भी कथा सुनने आगये। ये कथाकी महिमा है। शंकरजीने कहा कि ये हमारी महिमा नहीं कथाकी महिमा है कि आज साक्षात् शिव इस ग्रन्थके रचयिता

कथाके आचार्य, शब्दका प्राकट्य भगवान् शंकरके डमरूसे हुआ है, भगवान् शंकर आज कथा सुनने आगये। ये कथाकी महिमा है। एक बात और सुन लीजिये। सतीजीने कहा कि ये—

चरित सिन्धु गिरिजा रमन

घड़ेके पास जा रहे हैं कथा सुनने। कुम्भज! कम्भ कहते हैं घड़ा को! और घड़ासे अगस्त्यजीकी उत्पत्ति हुई है। चरित सिन्धु जो समुद्र है वो घड़ेके पास कथा सुनने जा रहा है—भगवान् शंकरने कहा कि वह घड़ा धन्य है जो समुद्रको अपने हृदयमें उतार लिया, वह घड़ा धन्य है जो समुद्ररूपी चरित्रको समा लिया।

अगस्त्यजी समुद्रका पान कर गये थे—

प्रथम तो वसुन्धरा ही कितनी विशाल होगी,
घेरे उसे सिन्धु जल जान होगा कितना।
सुना था कि ऋषि ने समुद्र का था पान किया,
ऋषिका करतल कराल होगा कितना॥
एक-एक रोम माँही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड राजे,
प्रभु का बिकराल विराट होगा कितना।
सोई प्रभु बसते हैं हनुमत् के हृदय मध्य
तो हनुमत् का हृदय विशाल होगा कितना॥

धन्य है उस ऋषिको जो तीन अञ्जलिमें समुद्रका पान कर गया। अगस्त्यजी इस तरहसे अञ्जलिसे समुद्रका पान कर गये। भगवान् शंकरने कहा धन्य है वो कथावाचक जो घड़ेमें पूरे सिन्धुको उतार लिया। वो कथाको पान कर गया है। ऐसा कथाकार इस समय कोई नहीं है, जो कथाको पीगया हो—समुद्रको पीगया हो!

ये भगवान् शंकरका चरित्र है, समुद्रकी तरहसे चरित्र है—इसके एक श्लोककी व्याख्या आपके सामने आज तीसरे दिन भी होगी। आज जो भगवान् शंकरकी पहली विशेषता है, गोस्वामी तुलसीदासजी कह रहे हैं ऐसे शंकरजीको हम लोग जितने बैठे हैं सब प्रणाम कर रहे हैं और कह रहे हैं कि हे भगवान् शंकर हमारे ऊपर कृपा करो।

भगवान् शंकरमें नवो रस हैं। पहला रस-शृंगार! शृंगार रस भगवान् शंकरमें देखिये। जो अपने स्त्रीको गोदमें बैठाये हुए है, उससे बढ़करके शृंगारकी बात क्या हो सकती है—'यस्याङ्के च विभाति भूधर सुता' माँ पार्वती एक ऐसी पत्नी हुईं जिन्होंने इस शब्दको चरितार्थ कर दिया। 'अर्द्धांगिनी'! ऐसी पतिव्रता, ऐसा पतिव्रत किसीमें नहीं हुआ! जैसा पार्वतीजीको पतिव्रतका फल मिला, भगवान् शंकर इनको अपने अंगमें स्थान दे दिये हैं—आधे शरीरमें पार्वतीजी और आधेमें भगवान् शंकर हैं। अर्धनारीश्वर स्वरूप उसको कहते हैं। आप कभी रेनुकूट जायें तो डी. डी. बाबूने जो शंकरजीका मन्दिर बनवाया है अर्धनारीश्वर स्वरूपकी वहाँपर उपासना है। वही मूर्ति है वहाँ पर! ऐसा सौभाग्य किसीको प्राप्त नहीं हुआ कि पतिके आधे अंगमें निवास मिल जाये।

जिस समय कालिदासजी भोजके दरबारमें गये हैं। राजा भोज कालिदासजीका नाम सुना था। तो परिचय हुआ। भोजने कालिदासजीसे कहा कि सुना है कि तुम बहुत अच्छे कवि हो। लेकिन कोई नयी बात सुनाओ। कालिदासजी सोचे कि नयी बात इसको क्या सुनावें! कहा अच्छा भोज! हम तुमको नयी बात सुना रहे हैं। सावधानीसे सुनना। कालिदाजीने कहा शंकरजी मर गये। भोजने सुना उसका होश उड़ गया। यह क्या बोल रहा है कि शंकरजी मर गये। तब कालिदासजी भगवान् शंकरके शरीरका दो टुकड़ा कर रहे हैं—

अर्धं दानववैरिणा गिरिजया ह्यर्धं शिवस्याहृतं।

उनके शरीरका आधा टुकड़ा पार्वतीजीने ले लिया और आधा भगवान् विष्णुने ले लिया। हरिहरात्मक और अर्धनारीश्वर! दोनों स्वरूप मिलता है। जिसके शरीरका दो टुकड़ा हुआ, वह तो गया ही न!

इसलिए हमको बड़े दुःखके साथ कहना पड़ रहा है कि शंकरजी अब संसारमें नहीं रह गये। तो देखो जब कोई नहीं रहता है तो उसकी सम्पत्ति बटती है, बँटवारा होता है। अब शंकरजीकी जो खास सम्पत्ति थी उसको कालिदासजी गिना रहे हैं, जो खास-खास था।

(सावशेष)

मनके जीते जीत : मनके हारे हार

ब्र० श्रीगिरीशानन्द महाराज

प्रवचन संकलन : श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

(पूर्वानुवृत्त, जून 2005)

आश्चर्य है! क्या आपके जीवनमें ऐसी स्थिति आयी? डण्डा मारनेवाला सामने खड़ा है और किसीको उपदेश नहीं करके स्वयं अपने मनमें मस्त है—यह व्यक्ति मेरे दुःख-सुखका कारण नहीं है, मेरा मन ही मेरे दुःख-सुखका कारण है। तुकारामजीको डण्डा पड़ा तो दुःखी हुए क्या? नहीं हुए। अगर डण्डा दुःखका कारण होता तो उनको दुःखी होना चाहिए था? नहीं हुए। तो, यह जो व्यक्ति है यह दुःख-सुखका कारण नहीं होता।

हमारे पूज्य श्री उड़िया बाबाजी महाराज जब थे अपने लीला-विग्रहमें तब उनके आश्रममें अनेकानेक तरहके लोग रहते थे—अनेकानेक तरहके माने—कुछ झगड़ालू रहते थे, कुछ ऐसे भी रहते थे जो आश्रमसे घी आदि चुरा कर ले जाते थे, कोई कुछ करते थे और कोई कुछ करते थे और सब बाबाकी जानकारीमें होता था, फिर भी सबसे बड़ा प्रेम करते थे। बाबासे एक बार किसीने पूछा कि बाबा, आप ऐसे लोगोंको क्यों रहने देते हैं आश्रममें? बाबाने जवाब क्या दिया—नायं जनो मे—इसकी व्याख्या आप सुनिए—बाबाने जवाब दिया कि बेटा, ऐसे लोग आश्रममें रहते हैं तो वैराग्य पुष्ट बना रहता है, कभी राग होनेकी सम्भावना नहीं रहती—क्योंकि पता है कि कैसे हैं! अच्छे लोग ही रहेंगे तो महात्माका हृदय सरल होता है, दयालु होता है, तो राग हो सकता है। इसलिए मैं जान-बूझकर ऐसे लोगोंको रहने देता हूँ। देखो—दृष्टिका अन्तर !

एक संतने लिखा है न—

निंदक नियरे राखिए—बोले—कैसे रखें, वह रहे तो रखें क्या? बोले, नहीं रहे तो भी रखो। कैसे रखें? बोले—कमरा न हो तो कमरा बनवा दो उसके लिए और कहो कि यहीं रहो आप। क्यों? बोले—

निंदक नियरे राखिए आँगन कुटी छवाय।

अपने आँगनमें रखो, दूर नहीं रखना! बोले—क्योंकि बिना किसी साधनाके तुम्हारी सफाई करता रहेगा; तुम्हारे दोष बताता रहेगा, तुमको सावधान करता रहेगा—जो दोष हों उनको सुधार लेना और जो नहीं हों उनको तपस्या मान कर आनन्दित हो लेना।

तो—नायं जनो मे सुख-दुःखं हेतु—अभिप्राय क्या हुआ? आपकी कोई निन्दा करे तो आप घरमें रहने दोगे उसको? नौकर आपका यदि आपकी निन्दा करे तो घरमें रखोगे उसको? नहीं रखोगे उसको, क्योंकि आपको लगता है कि वह आपको दुःख दे रहा है और बाबा उसको आश्रममें रखते थे, क्यों कि बाबाको लगता था कि अच्छा है इनसे हमारे जीवनमें वैराग्य बना रहेगा। तो, अब निन्दा और व्यक्ति दुःख-सुखका कारण हुआ या हमारे मनका सोचनेका ढंग कारण हुआ? मन कैसे उस व्यक्तिको लेता है—सब इसपर निर्भर करता है! बाबाको निंदक रखना अच्छा लगता था और हमलोगोंको निंदक रखना बुरा लगता है! हम सोचते हैं कि निंदा करके यह हमारी प्रतिष्ठा खराब करेगा, हमको दुःखी करेगा और बाबा सोचते थे कि निन्दा करने वालेसे वैराग्य बना रहेगा, अपनी साधुता आगे बढ़ेगी। तो, दृष्टिकोणका अन्तर है सुख-दुःखमें या दृष्टिकोण कारण है? दृष्टिकोण कारण है। आप किस व्यक्तिको किस दृष्टिसे देखते हो—यह कारण है। निंदक भी किसीको सुख दे रहा है और किसीको

दुःख दे रहा है। जब निंदक ही निन्दा करके सुख और दुःख दोनों दे रहा है तब आप निन्दकको सुख-दुःखका कारण कैसे मान सकते हो? नायं जनो मे सुख-दुःख हेतु—यह व्यक्ति मेरे सुख-दुःखका कारण नहीं है, मेरे मनके सोचनेका जो ढंग है—ढंग माने जिसको आप ''एंगल'' बोलते हैं—किस ''एंगल''से आप देखते हैं, उस व्यक्तिको, वह आपका देखनेका ''एंगल'' आपको सुखी-दुःखी करता है, वह व्यक्ति आपको सुखी-दुःखी नहीं करता है? छह चीजोंको लिया है इस संतने—

नायं जनो मे सुख-दुःख हेतु—

1. व्यक्ति सुख-दुःखका कारण नहीं होता—

2. देवता सुख-दुःखका कारण नहीं होता—

3. आत्माका अर्थ यहाँ शरीर किया हुआ है—सुन्दर या असुन्दर शरीर सुख-दुःखका कारण नहीं होता—

4. ग्रह सुख-दुःखके कारण नहीं होते—

5. कर्म सुख-दुःखका कारण नहीं होता—और काल—काल माने समय—लोग कहते हैं न कि समय खराब चल रहा है, तो समय सुख-दुःखका कारण नहीं होता। ये छह कैसे सुख-दुःखके कारण नहीं होते, इनके पीछे केवल हमारा मन ही सुख-दुःखका कारण होता है, हमारा मन ही इनमें कैसी-कैसी कल्पना करके हमको दुःखी-सुखी करता है यह प्रसङ्ग आपको कल और परसों सुनाया जायेगा। आपका समय पूरा हुआ, आज यहीं विश्राम।

: 2 :

पुनः उसी प्रसङ्गपर हमलोग चर्चा प्रारम्भ करें जो हमारे लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवनके अङ्ग हैं—''मनके जीते जीत है मनके हारे हार''—यह मनका ही सारा पसारा है। सारा संसार मनका परिणाम है। व्यक्तिकी दोस्ती-दुश्मनी मनका परिणाम। एक व्यक्ति किसीका दोस्त है किसीका दुश्मन। वही व्यक्ति किसीको अच्छा लगता है, किसीको बुरा लगता है। तो, व्यक्तिमें अच्छाई-बुराई है कि आपके मनमें अच्छाई-बुराई है? मनमें। शराब किसीको अच्छी लगती है, किसीको बुरी लगती है। जिसको आपने सुखदायी मान रखा है वह आपको अच्छा लगता है और जिसको दुःखदायी मान रखा है वह बुरा लगता है। यह सुख-दुःख मनका परिणाम है और यह सुख-दुःखमय संसार भी मनका परिणाम है।

वेदान्तकी भाषामें जो मनकी परिभाषा है—हमारे महाराजश्रीजी बड़े सुन्दर सरल शब्दोंमें कहते थे कि विषय-युक्त आत्माका नाम ही मन है और निर्विषय-मनका नाम ही आत्मा है। यह मन कोई अलग नहीं है। यह जीवात्मा जब इच्छाओंसे घिर जाता है, इच्छाओंसे प्रेरित होता है—जीवात्मा ही ब्रह्म है कि ब्रह्म कोई अलग होता है—आपलोग यहाँ सब वेदान्ती हो, वेदान्तका घोष क्या है—

जीवो ब्रह्म इव नापरः

जीव ही ब्रह्म है दूसरा कुछ नहीं। और जब जीव ब्रह्म है तब जीव संसारी कैसे हो गया? इच्छाओंके कारण कामनाओंके कारण, वासनाओंके कारण। तो, जो सविषय आत्मा है उसका नाम मन है और जो निर्विषय मन है उसीका नाम ब्रह्म है, उसीका नाम आत्मा है। वैसे वेदान्त- ग्रन्थोंमें मनकी व्याख्या भी लिखी है—आप अगर किसी शल्य-चिकित्सकसे यह कहें कि आप शरीरका ऑपरेशन करके ''मन'' नामकी वस्तु निकाल दो ताकि उसको हम थोड़ा ठीक कर दें, तो क्या वह निकालकर देगा आपको? क्यों है कोई डाक्टर जो आपरेशन करके मनको निकाल दे? नहीं है !

तो आखिर यह मन है क्या? यह डाक्टरोंके पहुँचके बाहरकी बात है—मन दिखायी देता नहीं है, कोई भी आजतक इसको देखा नहीं है, लेकिन सारी समस्या या सफलताकी जड़ यह मन ही है। दोनोंकी समस्याकी भी और सफलताकी भी जड़ यही है। मन अगर किसी रास्तेमें एकाग्र होकर लग जाय तो सफलता भी तो यही

दिलाता है। तो यह मन है क्या? यह कहाँ रहता है? लोग कह देते हैं—यहाँ रहता है। तो, यहाँ खाली नहीं रहता है, पूरे शरीरमें व्याप्त है। अन्तःकरणके जो चार भाग हैं—मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार—उसमें एक भागका नाम मन है सारे शरीरमें व्याप्त है। अन्तःकरण माने अन्तःक्रियते अनेन् विषयाः—अन्तःकरण किसको बोलते हैं? ये जो इन्द्रियाँ हैं इनको बहिःकरण बोलते हैं, माने इनसे बाहरका ज्ञान होता है और अन्दरका ज्ञान जिससे होता है या जो विषयोंको अन्दर ले जाता है उसका नाम होता है—

अन्तःकरण-अन्तःक्रियते-अनेन।

तो सज्जनों, यह मन है क्या? वेदान्त-सारमें मनकी परिभाषा लिखी है—

तत् संकल्प विकल्पात्मको मनः

संकल्प - विकल्पात्मकः मनः—यह अन्तः-करणका एक हिस्सा-चार हिस्से हैं उसके-अहंकार, चित्त, बुद्धि और मन—इसमें-से एक हिस्सा जो है वह संकल्प-विकल्प करता है और इस हिस्सेका नाम हो जाता है—मन। अन्तःकरण एक है—आप ऐसे समझें—जैसे ये हमारे गिरीश भाई हैं—ये यदि कहीं "लेक्चर" देने लग जायें तो इनका नाम "लेक्चरर" हो जायेगा, जब ये घरमें रहते हैं तब बेटेके लिए "पिता" हैं और जब हरी भाई थे तब उनके लिए पुत्र थे और मित्रोंके लिए ये मित्र हैं, पत्नीके लिए ये पति हैं—कार्य-भेदसे नाम-भेद हो जाते हैं। लेकिन व्यक्ति एक है कि अनेक है? एक ही है! तो, एक ही अन्तःकरण जब संकल्प-विकल्प करने लगता है तब उसका नाम मन हो जाता है, जब निश्चय-अनिश्चय करने लगता है तब उसका नाम बुद्धि हो जाता है, जब थोड़ा अहंकार—यह मैंने किया, यह मैंने किया, यह मैं करूँगा, यह मैं करूँगा—करने लगता है तब अहंकार हो जाता है और जब स्मृतिमें डूब जाता है—स्मृतियाँ जहाँ सँजोकर रखता है तब स्टोर नाम चित्त हो जाता है।

तत् संकल्प-विकल्पात्मकः मनः—मन माने क्या होता है? आप समझ लें मन क्या है? मन जो है वह बड़ा सूक्ष्म है, सारे शरीरमें व्याप्त है—संकल्प-विकल्पात्मक जो आपके मनका भाव है उसका नाम मन है। मन कोई वस्तु नहीं है। भगवान् कहते हैं—मन्मना भव—मन मेरेको दे दो, तो क्यों भाई, क्या मन मिठाईका डब्बा है जो उठाकर दे दें उनके चरणोंमें? कहाँसे दे दें? कोई हमारी पकड़की चीज है? मन्मना भव—का अर्थ है कि भगवान् कहते हैं कि मनका जो संकल्प-विकल्प है वह मेरे प्रति लगा दो। माने मनका जो कार्य है वह मेरेसे जोड़ दो-संकल्प करो तो मेरे लिए, अच्छा सोचो तो मेरे लिए और झगड़ेकी बात भी सोचो तो मेरे लिए। भगवान्ने कितनी छूट दी है। आपका मित्र क्या ऐसी छूट देता है? आपका मालिक क्या ऐसी छूट देता है कि स्तुति भी करो तो मेरी और निन्दा भी करो तो मेरी? क्यों भाई है कोई मालिक ऐसा यहाँ जो अपने नौकरको ऐसी छूट देता हो? नहीं है! भगवान् कितने दयालु हैं, भगवान् कितने कृपालु हैं। भगवान् कहते हैं कि छूट है बेटा तेरेको, मैं जबरदस्ती नहीं कहता कि मेरी स्तुति तुम करो, लेकिन; मैं केवल एक निवेदन करता हूँ—भगवान्का हृदय देखो, भगवान्को करुणा देखो, भगवान्की कृपालुता देखो—भगवान् कहते हैं कि प्रेम करो तो मेरेसे और प्रेम न करते बने दुश्मनी करो तो दुश्मनी भी मेरेसे करो, संसारसे नहीं करना। कितने दयालु हैं, कितने कृपालु हैं !

अच्छा, आपकी पत्नीको कोई उठा ले जाय और उसके बाद आपसे झगड़ा करे और फिर अगर वह पकड़में आवे आपके तो उसको आप जेलमें भेजोगे कि महलमें रखोगे? क्यों? कहाँ भेजेंगे? जेलमें! और रावण रामजीकी पत्नीको उठा ले गया, बादमें झगड़ा भी किया और भगवान् रामने उसको क्या दिया—नरक दिया कि मोक्ष दिया? आप देखो सारी घटना आपके सामने हैं, ऐसा मालिक आपको कहाँ मिलेगा?

(सावशेष)

वल्लभ सम्प्रदायमें दैन्य तत्त्व : सूरदासके सन्दर्भमें

श्रीविष्णुकान्त शास्त्री

(पूर्वानुवृत्त, जून 2005)

गोस्वामी गोकुलनाथ कथित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'के अन्तर्गत सूरदासकी वार्तामें कहा गया है कि प्रथम साक्षात्कारके समय सूरदासने वल्लभाचार्यके समक्ष दीनताके दो पद गाये थे—'हरि हौं सब पतितन कौ नायक' तथा 'प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ'—जिन्हें सुनकर 'श्री आचार्यजी आपु सूरदास सौं कहे—जो सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे कों है? सो तासों कछु भगवतलीला वरनन करि'[1] इसी प्रसंगके आधार-पर सूरदासके अधिकतर अनुशीलनकर्त्ताओंने यह मत व्यक्त किया है कि सूरके विनयके पद, विशेषत: दैन्यके पद वल्लभ सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके पूर्व लिखे थे। उद्धृत हैं कुछ महत्त्वपूर्ण विद्वानोंके मत।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी धारणा है कि 'आरम्भमें सूरदास, जान पड़ता है, सख्य या वातस्लय्की अपेक्षा दास्यकी ओर अधिक झुके थे।....(उपर्युक्त प्रसंग का हवाला)....इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि महाप्रभुके संसर्गमें आनेके बाद सूरदासने अपना पुराना रास्ता छोड़ दिया और अपने गानेका मुख्य विषय भगवत् लीलाको ही बना लिया।'[2]

डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम'का मत है—'सूरसागरके प्रथम स्कन्धमें आत्मनिवेदन सम्बन्धी पदोंकी अधिकता है। हमारी सम्मतिमें ये पद आचार्य वल्लभ द्वारा दीक्षित होनेके पूर्व ही कवि द्वारा निर्मित हो चुके थे। इन पदोंमें सूरके हृदयका दैन्य, कातर क्रन्दन तथा पश्चात्ताप भरा पड़ा है।'[3] उपर्युक्त प्रसंगकी विवेचनाके अनन्तर उनका निष्कर्ष है, 'इससे यह मंतव्य गृहीत किया जा सकता है कि भक्तको प्रभुके सामने अपना दैन्य प्रदर्शित नहीं करना चाहिए।....पुष्टिभक्तिमें भगवान्का माहात्म्य तो स्वीकृत है, पर भक्तका दैन्य भाव गृहीत नहीं हुआ है।'[4]

डॉ. ब्रजेश्वरके अनुसार 'अधिकांश विद्वान् तो उन्हें (विनयके पदोंको) सूरकी आरम्भिक कृति मानते हैं, न केवल इसलिए कि प्राय: ग्रंथारम्भमें मिलते हैं वरन् इसलिए भी कि इनमें सूरका वह 'घिघियाना' वर्णित है जिसे श्रीकृष्णके लीलागानमें दीक्षित करके महाप्रभु वल्लभाचार्यने छुड़ा दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि इन पदोंमें कविकी विरक्तभाव संभूत शान्त और दैन्यपूर्ण दास्य भक्तिका ही प्रकाशन हुआ है जो आगे कृष्णके रूप-सौन्दर्य और लीलामाधुर्यमें दब गयी।[5] यह ठीक है कि डॉ. वर्माने कुछ लोगोंके इस मतका भी उल्लेख किया है कि हो सकता है कि ये पद सूरदासकी वृद्धावस्था की रचना हों। यदि ऐसा हुआ हो तो डॉ. वर्माके अनुसार उसका कारण यही रहा होगा कि सूरदासकी प्रारम्भिक दैन्य भावना सर्वथा लुप्त नहीं हो सकी होगी, कभी-कभी उसका प्रकाशन होता होगा, जीवन-संध्यामें वह कदाचित् पुन: कविके चेतन स्तर-पर मुखर हो गयी होगी। इनके कथनका आशय यही प्रतीत होता है कि वल्लभके निषेधके कारण सूरकी दैन्य-भावना दब गयी थी जो दुर्बल क्षणोंमें बादमें उभर आया करती होगी।

डॉ. विजयेन्द्र स्नातकने तो उक्त प्रसंगके उद्धरणके अनन्तर टिप्पणी जड़ी है, 'इस फटकारको सुनते ही सूरने विनयके पद गाना समाप्त कर कृष्णकी वैष्णव सम्प्रदाय सम्मत लीलाका गान प्रारम्भ किया।'[6]

---

1. सूरदासकी वार्ता— सं. प्रभु दयाल मीतल (प्र. सं.) पृ. 11 2. सूरसाहित्य (सं. 2012) पृ. 144 तथा 146
3. सूरदासका काव्य वैभव (प्र. सं.) पृ.19 *4. वही पृ. 89,*
5. सूरदास (द्वि. सं.) पृ. 56 *6. डॉ. हरवंश लाल शर्मा द्वारा संपादित सूरदास पृ. 68*

इन मान्यताका सारांश ऊपर दिये गये मतोंमें आगया है, अतः इसके पोषक अन्य विद्वानोंके कथनोंकी उद्धृति अनावश्यक है।

यदि यह मान्यता सही है तो इससे तीन निष्कर्ष निकलते हैं :

1. दैन्य निवेदन एवं लीलागानमें विरोध है।

2. वल्लभ सम्प्रदायमें भक्तका दैन्य भाव गृहीत नहीं हुआ है।

3. अतएव सूरदासने वल्लभ सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके अनन्तर विनयके पद नहीं लिखे, या यदि लिखे भी तो अपनी पूर्व भावनाके मुखर हो जानेपर वल्लभ मतके प्रतिकूल जाकर लिखे।

मेरी विनम्र सम्मतिमें ये निष्कर्ष तथ्य विरुद्ध होनेके कारण असंगत एवं त्याज्य हैं। वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गके साथ जिनका गहरा परिचय है वे इन निष्कर्षोंको स्वीकार नहीं कर सकते। हर्षका विषय है कि डॉ. दीनदयालु गुप्त[7], श्रीप्रभुदयाल मीतल[8], सदृश विद्वानोंने यह प्रतिपादित किया है कि पुष्टि-मार्गके अन्तर्गत दैन्यकी भावनाका विधान भी है, अतः सूरने वल्लभ सम्प्रदायमें आनेके बाद भी दैन्यपरक पदोंकी रचना की होगी। किन्तु इन विद्वानोंने इस विषयका इतना संक्षिप्त विवेचन किया है कि इससे सम्बद्ध विविध पहलुओंकी कुछ विस्तारपूर्वक विवेचना आवश्यक है।

विनयके पदोंकी रचनामें और लीला-गानमें किसी भी प्रकारके विरोधकी स्थिति कल्पित नहीं की जा सकती। 'विनय पत्रिका'के रचयिता तुलसीदास 'नाम ललित, लीला ललित, ललित रूप रघुनाथ'[9]के विश्वासी भी थे। रामचरित मानस, गीतावली, कवितावली आदिमें प्रभुकी लीलाका जैसा अंकन उन्होंने किया है, वैसा सूरके अतिरिक्त दूसरे कवि अपनी कृतियोंमें कहाँ कर पाये हैं! यदि कहा जाये कि तुलसी दास्यभावके भक्त थे तो विद्यापति, परमानन्द दास, मीरा, गोस्वामी हित हरिवंश, स्वामी हरिदास आदिकी रचनाओंमें भी विनयके पद मिलते हैं। वैष्णव भक्ति साहित्यमें नाम, रूप, लीला धामकी महिमाके गानके साथ-साथ आत्म-निवेदन परक पदोंकी रचना अत्यन्त प्रशस्त मानी गयी है। इन पदोंमें प्रायः दैन्यकी अभिव्यंजना होती ही है। अतः विनयके पद लीलागानके परिपूरक हैं, परिपंथी नहीं। सच तो यह है कि विनयकी भावना वह नींव है, जिसपर भगवान्‌का माहात्म्यज्ञान अवलम्बित है, जिसके बिना भक्तिका भवन खड़ा ही नहीं हो सकता। भक्तकी दृष्टिमें प्रभुकी महत्ता जितनी उभरती है उसके हृदयमें, उतनी ही चुभती है अपनी लघुता। अपनी सीमाओंका सबसे प्रखर अनुभव दास्य भावमें होता है, यह ठीक है, किन्तु सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि अन्य भावोंमें प्रेमके प्रकर्षमें भी अभिमान न आजाये इसका ध्यान बराबर बनाये रखना पड़ता है। नारदीय भक्ति सूत्रमें भक्तिकी श्रेष्ठताके हेतु बताते हुए कहा गया है, 'ईश्वरस्याभिमान द्वेषित्वाद् दैन्य प्रियत्वाच्च'[10], अर्थात् ईश्वरके भी अभिमानसे द्वेष करने तथा दीनताप्रिय होनेके कारण भक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि भक्तोंमें अभिमान नहीं है, दैन्य है। ब्रजकी गोपिकाओंको भक्तोंका आदर्श बतानेके साथ ही साथ देवर्षिने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'न तत्रापि माहात्म्यज्ञान विस्मृतत्यपवादः, तद्विहीनं जाराणामिव'[11], अर्थात् गोपियों (माधुर्यभावके भक्तों)के प्रेममें भी माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका कलंक नहीं हो सकता क्योंकि तब तो वह प्रेम कामीके समान हो जायगा।

इसीलिए श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके प्रसंगमें संयोगावस्थामें गोपियोंके मनमें किंचित् अभिमानका उदय एवं प्रभुके माहात्म्यज्ञानका विस्मरण-सा होते ही श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये थे। और, तब 'गोपीगीत'में गोपियोंके अन्तःकरणकी विकलता प्रभुके माहात्म्य एवं लीला कीर्तनके साथ-साथ अपने दैन्यके निवेदनमें

---

7. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग-2 पृ. 602-603 *8. सूरदास निर्णय पृ. 263* *9. दोहावली दो. सं. 120*
10. नारदीय भक्ति सूत्र-27 *11. वही सूत्र 22, 23*

मुखरित हो उठी थी। इसी तरह श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके साठवें अध्यायमें श्रीकृष्णने जब परिहासमें ही अपनेको निष्किंचन बताते हुए रुक्मिणीजीको किसी अन्यका वरण करनेके लिए कहा तो वे अत्यन्त दीन हो उठी थीं। तब स्वयं प्रभुको उन्हें आश्वस्त करना पड़ा था। तदनन्तर रुक्मिणीजीने दीर्घ उत्तर देते हुए प्रभुकी महिमा एवं अपनी हीनताका मार्मिक निरूपण कर अपनी अनन्यता प्रमाणित की थी। अत: सख्य, वात्सल्य भावके भक्तोंकी बात तो जाने ही दीजिये, माधुर्य भावके भक्त भी प्रभुकी लीलाके गान एवं अपने दैन्य-निवेदनमें कोई विरोध नहीं मानते। इस प्रकार उपर्युक्त मान्यताका पहला निष्कर्ष असंगत ठहरता है।

वल्लभ सम्प्रदायमें भक्तका दैन्य-भाव गृहीत नहीं हुआ है, यह कहना वल्लभ सम्प्रदायसे अपना नितान्त अपरिचय प्रकट करना है। वल्लभकी साधना पद्धति पुष्टिमार्ग कहलाती है। पुष्टिका अर्थ है पोषण...प्रभुका अनुग्रह! प्रभुकी प्राप्ति प्रभुके अनुग्रहसे ही सम्भव है। जीवकी शक्ति सीमित है अत: उसके बारेमें साधन भी सीमित ही हैं। सीमित साधनोंका फल भी सीमित ही होता है। कर्म सिद्धान्तके अनुसार प्रभु उन सीमित साधनोंके फल कर्मानुरूप ही होते हैं। यह दिवालोककी तरह स्पष्ट है कि जीवके सीमित साधन असीम प्रभुको प्राप्त करानेका फलदान करनेमें नितान्त अपर्याप्त हैं। फिर, जीव जो थोड़े-बहुत अच्छे साधन अन्य कालोंमें कर भी सकता था, इस घोर कलिकालमें उन्हें भी नहीं कर पाता। अत: स्वभावत: दुष्ट, अहंकार-विमूढ, पापानुवर्ती कलिके जीवोंके लिए वल्लभका विधान है पूर्णत: निस्साधन होकर दीन भावसे प्रभुकी शरणमें जाना! स्वयं अपने लिए उनका द्विधाहीन वचन है :

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषत:।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एवं गतिर्मम॥[12]

अर्थात्, विवेक, धैर्य, भक्ति आदिसे रहित मुझ पापासक्त दीनके लिए तो एकमात्र गति श्रीकृष्ण ही हैं। यदि यह बात स्वयं वल्लभाचार्यपर लागू होती है, क्या उनके अनुयायियोंपर लागू नहीं होगी? इसे भावातिरेककी विच्छिन्न उक्ति कहकर वल्लभकी मुख्य साधनाका अंश न मानना भी सम्भव नहीं है। वल्लभाचार्य और उनके वंशज गोस्वामीगण बराबर दैन्यकी साधनापर असन्दिग्ध शब्दोंमें बल देते रहे हैं।

श्रीमद्भागवतकी अपनी सुप्रसिद्ध टीका 'सुबोधिनीजी'की एक कारिकामें दैन्यको भक्तोंका चरम साधन बताते हुए वल्लभने कहा है :

नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम्॥[13]

अर्थात्, साधनोंकी सम्पत्ति-भरमार भी हो तो भी—(उन्हींके कारण) हरि किसीपर प्रसन्न नहीं होते। भगवान्‌को तुष्ट करनेका एकमात्र साधन भक्तोंका दैन्य-दीनता ही है। इसी तरह रुक्मिणीपर प्रभुकी कृपाके हेतुका निर्देश करते हुए वल्लभाचार्यने 'सुबोधिनीजी'में लिखा है :

अनन्यत्वं परिज्ञाय, दीनत्वस्य हीनभावत्वस्य च प्रकाशितत्वात्।
गर्वाभावमपिज्ञात्वा सन्तुष्टो भगवानतस्या वाक्यमभिनन्दति॥[14]

अर्थात्, रुक्मिणी अनन्य भाव रखती है और दीनत्व तथा हीनत्वके प्रकाशनसे इसे गर्व भी नहीं, इससे प्रसन्न होकर भगवान् उसके वाक्यका अभिनन्दन करते हैं। पुष्टिमार्गमें वल्लभकी इस उक्तिका आज भी परम समादर है कि 'दैन्य त्वत्तोषसाधनम्'[15] अर्थात्, प्रभुके तोषका साधन दैन्य ही है। *(सावशेष)*

---

12. वल्लभकृत कृष्णाश्रय स्तोत्र-नवम् श्लोक पुष्टिमार्गीय स्तोत्र रत्नाकर (द्वि. सं.) पृ. 45

13. सुबोधिनी दशम स्कन्ध-तामस फल अवान्तर प्रकरण-चतुर्थ अध्यायकी द्वितीय कारिका।

श्रीसुबोधिनी ग्रन्थमाला-पंचम पुष्प (प्र. सं.) पृ. 211

14. श्रीसुबोधिनी ग्रन्थमाला-नवम पुष्प-10.57.49 का आभास-पृ. 204

15. गो. विट्ठलनाथ कृत प्रथम विज्ञप्ति श्लोक सं. 21 में उद्धृत वृहत्सोत्रसरित्सागर पृ. 200-201

आन्तरिक त्याग एवं परा भक्ति

स्वामी रामदासजी महाराज

अनुवादक : डॉ० विश्वामित्र

मात्र बाह्य त्यागसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती। ऐसे अनेक हैं जिन्होंने ऐसा किया और जंगलोंमें चले गये, परन्तु ईश्वरानुभूति न कर पाये। अत: यह आवश्यक ही नहीं है किसी वस्तुका बाह्य त्याग किया जाये। बाह्य स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी व्यक्तिके मनकी आन्तरिक स्थिति। यदि हम अपने जीवनको ईश्वरके समर्पित कर दें और समर्पित जीवन व्यतीत करें तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कहाँ रहते हैं। हम परिवारमें रहते हुए भी प्रभु-प्राप्ति कर सकते हैं, क्योंकि परमेश्वर केवल वनों और कन्दराओंमें ही विराजमान नहीं, वह तो सर्वत्र विद्यमान है। वह हमारे भीतर है, हमारे अंग संग है हमारे साथ है और हमारे सब ओर है। उसे ढूँढ़ने तथा पानेके लिए हमें कहीं भी जानेकी आवश्यकता नहीं।

महात्मा बुद्ध, चैतन्य महाप्रभु एवं स्वामी विवेकानन्दके उदाहरण सभीके लिए अनुकरणीय नहीं। वे तो ऐसे अलभ्य व्यक्तित्व हैं जिनसे भगवान्ने बाह्य आसक्तियोंका भी त्याग करवाया ताकि वे स्वतन्त्र रूपसे समूची मानवताकी सेवा कर सकें। जब परमात्मा हमसे ऐसा कार्य लेना चाहते हैं, अवश्य लें, उनकी परमेच्छा शिरोधार्य है। तब हमें उस धाराके प्रवाहका अवरोध नहीं करना चाहिए जो हमारी संकीर्ण सीमाओंको तोड़ने-फोड़नेके लिए आयी है। भगवान् श्रीकृष्ण एवं राजा जनकने अपने जीवनोंसे यही दर्शाया है, कि लोक-संग्रहके कार्य हेतु भी, अपने कर्त्तव्य-कर्मोंका त्याग नहीं करना। मोक्ष-प्राप्तिके लिए बाह्य-आसक्तियोंका ऐच्छिक त्याग अनावश्यक है। ईश्वर-अनुभूतिका अर्थ संसारसे भागना नहीं, अपितु इसे परमात्माकी अभिव्यक्ति, उसका साकार रूप अवलोकन करना है तथा समूचे प्राणी एवं भूत समूहमें उस प्रभुके दर्शन कर, उसकी परमेच्छाके प्रति पूर्णतया समर्पित रहकर, इन सबकी हृदयसे सेवा करना है।

स्वामी रामदास अभी भी संसारसे सम्बन्धित हैं आंशिक नहीं, पूर्णतया। उनका प्रियतम केवल कुछ विशेष व्यक्तियोंमें ही नहीं, बल्कि अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य, ऐश्वर्य, शक्ति एवं प्रताप सहित सभी वस्तुओं, व्यक्तियों एवं चराचर जगत्में विराजमान हैं। रामदासने अपने संकीर्ण परिवारको विश्व-परिवारमें विस्तृत किया है। अत: यह त्याग नहीं विस्तार है। भगवान्ने कृपा करके अखिल विश्वका आलिंगन करवा दिया अर्थात् सबको अपना बना दिया है। रामदासका प्रियतम प्यारा संसारकी सभी वस्तुओं एवं सभी प्राणियोंके रूपमें सर्वत्र विराजमान है।

जो हमें त्यागना है, वह है अभिमान, अहंभाव कि हम कर्त्ता हैं। हमारे भीतर आसीन भगवान् कर्त्ता हैं, हमारी समस्त गति-विधियोंके एकाकी स्वामी। यदि हम अपने सकल कर्म परमेश्वरको समर्पित कर दें, तो हम अपने कर्तृत्वका विध्वंस कर सकते हैं तथा उससे परम ऐक्य प्राप्त कर सकते हैं। समर्पण जीवनके बाह्य ढंगमें कोई परिवर्तन नहीं, अपितु उसके प्रति एक सही अभिवृत्ति है।

जब हृदय भगवद्विचारोंसे परिपूरित होता है, तो स्वभावतया उस समय उसमें अन्य विचार नहीं होता। यह त्याग है—संसारमें किसी भी पदार्थकी कामना न होना। जिस प्रकार एक नदीके निकट तालाब हो तो इसे दोनोंके बीच एक नाली (channel) बनानेसे भरा जा सकता है, इसी प्रकार जब आप अपने मनको परमेश्वरके साथ जोड़ देते हैं, तो उनकी शक्ति, कृपा एवं उनका प्रेम

स्वतः आपको प्राप्त होगा तथा आपका मन समस्त कामनाओंसे शून्य होकर, प्रफुल्लतासे परिपूर्ण होगा। यह अपार हर्ष आपको भीतरसे पूर्णतया भर देता है।

भगवान्‌की नदी, जिसके साथ अपने आपको युक्त करना है, बाहर नहीं, आपके भीतर है। आपको केवल मार्ग खोलना है और आप अविनाशी सुखसे आप्लावित हो जाते हैं। हम भौतिक वस्तुओंकी कामना केवल इसलिए करते हैं क्योंकि हमें सन्तोष नहीं है। हम अनुभवसे जानते भी हैं कि बाह्य वस्तुओंकी प्राप्ति सुखदायी नहीं, अपितु दुःख व चिन्ता ही मिलती है। जबकि वह सुख जो परमात्माके योगसे मिलता है, अविनाशी है शाश्वत है, विषय सुखकी भान्ति क्षणिक नहीं। यह सुख अखण्ड है। इसके मूलमें अन्तस्थका अनश्वर सत्य है, न कि बाह्य नश्वर विषय। नश्वर पदार्थ अनश्वर सुख नहीं दे सकते। अनश्वर ही शाश्वत सुख दे सकता और वह अनश्वर है दाता राम।

कपड़े बदलने अर्थात् गेरुआ पहननेका प्रभाव भी उसीपर जिसने अपनी समस्त कामनाओं अथवा सांसारिक आसक्तियोंका त्याग कर दिया है और संसारसे पूर्णतया विरक्तिका जीवन व्यतीत कर रहा है। उसके लिए कपड़ोंका महत्त्व है। सत्यके जिज्ञासुको गेरुआ पहरावा उसे यह याद दिलानेमें सहायता देता है कि उसका जीवन भगवान्‌के समर्पित है। जब उसका समर्पण पूरा हो जाता है तथा उसे ईश्वरानुभूति हो जाती है, तो इसका महत्त्व नहीं रहता कि कपड़े कैसे व कौनसे पहने हैं। रामदास स्वामी अपने अनुभवसे बताते हैं—वह आध्यात्मिक साधनाके प्रारम्भिक वर्षोंमें भगवे कपड़े पहनते थे। ऐसा पहरावा उन्होंने तीन या चार सालतक जारी रखा, तदुपरान्त छोड़ दिया और वैसे सफेद कपड़े पहनने शुरू कर दिये, जैसे सामान्य द्वारा प्रयोग किये जाते हैं। तब गेरुआ पहनते थे तो उन्हें महसूस होता कि उनका जीवन समर्पित है। यह रंग त्यागका परिचायक है, प्रतीक है। अतः जब भी वह उस पहरावेको देखते तो उन्हें महसूस होता कि उनका जीवन परमेश्वरका है, भगवद्सेवा एवं ईश्वरानुभूतिके अतिरिक्त किसी दूसरे कार्यके लिए प्रयोग नहीं करना। इस प्रकार ऐसा पहरावा सहाई था। यद्यपि यह सदा अनिवार्य नहीं है। व्यक्ति बिना बाह्य परिवर्तनोंके भी ईश्वरके समर्पित हो सकता है, क्योंकि समर्पण तो विशुद्ध आन्तरिक भाव है। वह कोई भी कपड़ा पहने जो उसे पसन्द हो। पहरावा उसके लिए महत्वहीन है। बहुतसे सन्त साधारण वस्त्र पहनते थे, तब भी उनका जीवन पूर्णतया समर्पित था—पूर्ण आन्तरिक त्यागमय जीवन।

पराभक्ति क्या है तथा इसका ज्ञानसे क्या सम्बन्ध है? भक्तिके गर्भमें ज्ञान गर्भ धारण करता है। ज्ञानके जन्म लेनेके बाद, भक्ति इसकी रक्षा वैसे ही करती है जिसे माँ शिशुको जन्म देती है और नवजातकी देख-भाल करती है। जब आप भगवान्‌के अनन्य भक्त हो जाते हैं, तब आप कालान्तरमें उसी विश्वात्मामें तल्लीन हो जाते हैं तथा जान लेते हैं कि आप तथा वह वस्तुतः अभिन्न हैं—एक हैं। यह ज्ञान है। तदुपरान्त इस ज्ञानकी रक्षा भक्ति द्वारा होती है। इस प्रकार भक्तिके माध्यमसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है अर्थात् भगवान्‌के साथ भक्तका तादात्म्य या जीवात्माका विश्वात्मासे ऐक्यका बोध हो जाता है। भक्ति पुनः ज्ञानकी रक्षा करती है। भक्ति जो ज्ञानकी रक्षा करती है, उसे पराभक्ति कहा जाता है। पूर्ववर्णित भक्ति जो तैयारी (पूर्वापेक्षित) भक्ति है जिसके विशिष्ट चिह्न हैं—परमेश्वर प्राप्तिके लिए सतत् तड़प एवं बेचैनी। जब आपकी उत्कण्ठा तीव्र हो, प्रबल हो, तब आप प्रार्थना, भगवन्नाम जप एवं प्रभुके गुण-गान द्वारा अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर देते हैं। इससे आपके मनका पवित्रीकरण हो जाता है और तब राम-दर्शन होता है। अन्ततोगत्वा, अविद्याका आवरण जो आपको ईश्वरसे पृथक् रखता है, लोप हो जाता है और आपको उससे ऐक्य प्राप्त होता है। इस उपलब्धिके उपरान्त भी भक्ति जारी रहती है। यह भक्ति स्वभावतः एक पूर्ण खिले हुए पुष्पकी भान्ति

होती है जिसकी सुगन्ध है प्रेम, सबके प्रति एक-सा प्रेम। अब आप प्रत्येक प्राणीको अपने उस शाश्वत प्रियतमकी अभिव्यक्ति अवलोकन करते हैं, जिसे आपने अपने हृदय-मन्दिरमें आसीन पाया है, आपको अब महसूस होता है कि अखिल ब्रह्माण्ड उसकी विद्यमानतासे ही व्याप्त है तथा उस जगत्‌के सकल चराचर जीव-जन्तु उसी प्रियतमकी प्रतिमूर्तियाँ हैं। ऐसी स्थितिको ही पराभक्ति कहा जाता है।

यहाँ आप संसारको मिथ्या नहीं मानते, भगवान् मानते हैं—उसका साकार रूप। इस विश्व-प्रेमके माध्यमसे, इस समूचे व्यक्त जीव-समूहके साथ एकाकार हो जाते हैं तथा अकथनीय परमानन्दसे आनन्दित रहते हैं। आपके व्यक्तित्वकी आन्तरिक गहराइयोंमें, निश्चलतामें आपके अविनाशी प्रियतमकी शान्ति रहती है, किन्तु आपके बाह्य सक्रिय जीवनमें, आपका व्यक्तित्व दिव्य-प्रेमसे परिपूरित रहता है, जो सबको एक जैसा प्रवाहित होता है, आपको अपार हर्ष देता है जो अवर्णनीय है। आन्तरिक शान्ति आपके बाह्य सुखके विकीर्ण किये जानेसे परिपूर्ण होती रहती है। आप भीतर-बाहर, चहुँ ओर शान्ति-ही-शान्तिका अनुभव करते हो। आप प्रेमका प्रतिबिम्ब बन जाते हो—मूर्त्तिमान प्रेम। आपको समदृष्टि प्राप्त हो जाती है, आपका किसीसे द्वेष या वैर और न ही संसारमें किसीके प्रति घृणा ही होती है। आप श्रेष्ठसे, बुरेसे तथा पापीसे एक-सा प्रेम करते हो। यह पराभक्ति है। पराभक्ति ज्ञानके बाद आती है। परा अर्थात् उच्चतर। निम्न अर्थात् अपरा भक्ति वह जो ईश्वरानुभूतिसे पूर्व होती है। भक्ति तो आधार है, ज्ञान है, दीवारें एवं छत और पराभक्ति है कलश अर्थात् सकल आध्यात्मिक अनुभवका शिखर। भक्ति बिना ज्ञान रूखा-सूखा। ज्ञानमें भक्तिसे माधुर्य आता है। आपका जीवन तब दोनों भीतर एवं बाहर पूर्णत्व प्राप्त कर लेता है। अन्यथा व्यक्ति मात्र शुष्क दार्शनिक तत्त्वज्ञानी रह जाता है। इसे प्रेमसे मीठा होने दें अर्थात् प्रेमकी मिठास इसमें भर दें।

☆

चार कविताएँ

(एक)

शिवालय विशाल
सामने ताल
बगल में गूलर
फूलता-फलता
जरा-सा हटकर
कनेर का बाग
पीले फूलों
का मोहक अम्बार।
था ऐसा एक
गाँव का छोर
जहाँ उगा था
मेरा जीवन
जहाँ खेला था
मेरा बचपन।

(दो)

कभी कैथा का
अकेला, ऊँचा पेड़
देता था निः:स्वार्थ
सकल गाँव को स्वाद।

(तीन)

तपन अतिशय
पर गुलमुहर में
फूल अतिशय।

(चार)

घाम कड़ा
फिर भी
चले फावड़ा
सच मेहनत का
कद बहुत बड़ा

—डॉ० रमेशकुमार त्रिपाठी

आइये! कृष्णके पास चलें

(डॉ० धर्मशीला भुवालकाकी गीता-कक्षासे)

संकलनकर्त्री : श्रीमती उषा जालान

(पूर्वानुवृत्त, जून 2005)

अपने पुरुषार्थसे ईश्वरको पाने की तो कल्पना भी करना सम्भव है। पुरुषार्थमें शक्ति ही कितनी है? मान लेना चाहिए कि ईश्वर हमारे साथ ही है—तो ईश्वर तो सबको मिले ही हुए हैं, सबसे जुड़े ही हुए हैं। हमने मान लिया कि हम जुड़े ही हुए हैं, तो हम योगी बन गये। जुड़ना माने योग और जो निरंतर जुड़े ही हुए हैं उनके लिए कहा गया—नित्ययुक्ताःयोगिनः।

स्मरति नित्यशः कहनेके बाद नित्ययुक्तस्य भी कहा है कृष्णने। जैसे कि कहना चाहते हों—यों ही कोरा स्मरण मत करते रह जाना, भाव पूर्वक जुड़ भी जाना। तुम्हारी जिह्वा तो अभ्यासवशात् मेरा नाम रटती रहेगी, पर मुझसे अपने अन्तःकरणको भी भर लेना तुम! अभ्यास सिद्ध एक अवस्थामें और कृष्णके भावकी चिन्मयतामें तो बहुत अन्तर है न!

जिह्वापर कृष्णका नाम नाचता रहे यह भी अपने आपमें कोई साधारण बात नहीं है, पर उसे अपने भावसे सम्पुटित भी कर लें तो उसमें हमारे अन्तःकरणका प्रेम भी मिल जाये। नाम लेनेका अभ्यास करते रहें और अन्तःकरणको भावसे भर लें तब कहीं जाकर योगी बन सकते हैं।

ऐसे योगीके लिए भावनाके सम्बन्धी तो हैं ही कृष्ण, पर ऐसा योगी तो कृष्णको इन्द्रियोंका विषय भी बना लेता है। उसकी समस्त इन्द्रियों द्वारा होनेवाले कर्मोंमें नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तका अवतार होता है। अपनी आँखोंसे वह उसीको देखता है, अपने कानोंसे उसीकी वाणीको सुनता है उसकी वंशीको सुनता है। योगकी यह पराकाष्ठा है और उसी योगीके लिए कृष्णने स्वयंको सुलभ बताया है।

अनन्यचेता में जो जान रहा है और जिसको जाना जा रहा है—उन दोनोंकी एकता होती है। भक्ति तो नादमें भी सध जाती है पहले तो चित्तको, चित्त वित्तको, चित्के कोषको, चित्तमें भरे संस्कारोंको उसमें डालना होता है और तभी अनन्यचेता हुआ जाता है।

भगवान्‌को जो हम देखना चाहते हैं सो भगवान् क्या कोई पदार्थ हैं कि उन्हें आँखोंसे देखा जा सके! नहीं, हैं तो वे ज्ञान-स्वरूप, पर तब भी चित्तमें जब उनका प्रगाढ़ अनुभव होता है तब वही चित्त उनकी ही कृपासे कृष्ण बनकर सामने आकर खड़ा हो जाता है।

अनन्यचेता होकर अपना चित्त-वित्त उन्हें दे दिया और आँखोंसे उन्हें देख लिया—इसीसे आँखें निर्मल हो गईं, अन्तःकरण निर्मल हो गया! अपना आपा मिल गया। वृत्तियाँ जो 'मैं' नहीं थीं, वे चली गईं और केवल 'मैं' ही रह गया। उस 'मैं' में कृष्ण झाँकने लगे। इतना प्रगाढ़ अनुभव हुआ कि चित्त ही ग़लकर हमारे सामने कृष्णके रूपमें आकारित हो गया।

राधा कौन थी? कृष्णकी आह्लादिनी शक्ति ही तो राधाका आकार लेकर आयी थी! राधाने अपने चित्तको कृष्णके प्रति समर्पित कर दिया। कृष्णको लगा—यह तो मेरा आह्लादिनी शक्ति बनकर मेरे सामने आ सकती है। कृष्णका विचार ही साकार होकर राधा बनकर उनके सामने आ गया।

चित्त जब द्रवित होकर बहेगा तब उसका ही तो आकार लेगा जिसके लिए वह बहा है। अनन्यचेता का एक अर्थ यह भी है कि—जहाँ अपने वैशिष्ट्यका लोप हो जाये।

हम सबके अन्दर एक सर्वज्ञ, सर्वप्रेमी, सर्वसमर्थ निष्काम-कर्मी बैठा है। हमारे माध्यमसे वह अपने उसी रूपको उजागर करता है जिससे उसका

कार्य सिद्ध हो सके। हम क्या बनेंगे इसका निर्णय वही करता है। कर्मकी कुशलता यदि हममें दिखती है तो वह उसीका वैशिष्ट्य है, हमारी अपनी कोई भी विशेषता नहीं है—यह बात समझमें आजानेपर परम चैतन्यका नृत्य होने लगता है। अपने प्रति हमारा महत्त्व बोध ही उसको हमारे अन्तःकरणमें अवतरित नहीं होने देता।

कर्मको कर्मयोग बनानेके लिए हमें अपने हाथोंमें ईश्वरका अवतरण करना होगा। ऐसा होनेपर भगवान् हाथोंके विषय बने कि नहीं? आँखोंमें जब उनका अवतरण होता है तब हम ज्ञानी बन जाते हैं। अन्तःकरणमें उनका अनुभव हो गया तो भक्त बन गये। इस तरह अन्द्रियोंके विषय बन जाते हैं भगवान्। भगवान् जबतक इन्द्रियोंका विषय बन नहीं जाते तब तक उनके स्मरणका सातत्य सध नहीं सकता। भगवान् निश्चितरूपसे मिलते हैं और अपने मिलनका उपाय भी वे स्वयं ही बता देते हैं। हमारी ओरसे तो बस उनसे मिलनेकी तीव्र इच्छा भर होनी चाहिए। हमारे अविश्वासका कुहासा ही उन्हें ढके हुए है।

अनन्यचेता का एक अर्थ भगवान्‌की हाँ-में-हाँ मिलाते चलना भी होता है। गाँधीजीसे किसीने अखण्ड हरिस्मरणका अर्थ पूछा तो उन्होंने उत्तरमें कहा—मेरा एक भी ऐसा जाग्रत् क्षण नहीं है जिसमें मुझे यह भान न हो कि ईश्वर मुझमें ही है और वह प्रत्येक कर्मको देख भी रहा है।

वर्तमानको ही इतना दीर्घ बनाइये कि वह सुषुप्तिमें भी खण्डित न हो और संग्राहक बनकर आपके अन्दर बैठ जाये। संग्राहक उसे कहते हैं जो नींदमें भी साथ रहता है और सुबह उठनेपर बता भी देता है कि नींद अच्छी आयी। जाग्रतावस्थामें निरंतर कृष्ण''कृष्ण''करते रहेंगे तो सुषुप्तिमें भी उनके नामकी अनुगूँज बनी रहेगी।

अर्जुन उच्चकोटिका साधक था। वह जानता था कि जीत तो उसी पक्षकी होगी जिधर कृष्ण स्वयं रहेंगे। कृष्णके हाथोंमें अपने रथकी बागडोर देकर निश्चित हो गया वह।

हम लोगोंको भी जान लेना चाहिए कि संसारके सारे सुख-दुःख, मान-अपमान, भला-बुरा, मेरा-तेरा, स्वजन-परजन—सब एक तरफ और निरस्त्र कृष्ण एक तरफ! कृष्णको अपने कर्मोंकी बागडोर थमाकर हमको भी निश्चित हो जाना चाहिए। ऐसा करनेपर हमको सफलता अवश्य ही मिलेगी—व्यवहारमें भी और परमार्थमें भी।

कृष्णने अपना स्वरूप छोड़कर अवतार लिया है मुक्ति दिलानेके लिए। देवताओं और मनुष्योंको जो राक्षसोंने अपनी राक्षसी वृत्तिके द्वारा बाँध रक्खा है उसीसे सबको मुक्त कराने आये हैं कृष्ण। अंदरकी मुक्ति तो बहुत सरल है। अंदर ही तो हैं कृष्ण! उनके पास अंदर चले जायें तो बस हमारी मुक्ति सुरक्षित है। पन्तु बाहरकी मुक्ति कैसे होगी? जिज्ञासु तो कह देगा—प्रभु! तुम कहते हो तुम्हारे चरणोंमें बैठनेसे ही मुक्ति मिलेगी तो मैं क्या नहीं बैठा रहूँ? कोई भी काम न करूँ तुम्हारा? यह संसार तुम्हारा ही तो है। संसारके सब कर्म भी तो तुम्हारे ही हैं, तब कर्म तो मुझे करने ही होंगे न! तो क्या तुम्हारे कर्मको करते-करते मुक्ति नहीं मिल सकती मुझे?

निर्वाह हमको स्वधर्मका ही करना है। स्वधर्मका निर्वाह करते हुए हम कोई-न-कोई कर्म तो करते ही हैं। उन कर्मोंका अच्छा या बुरा परिणाम भी आयेगा ही और दोनों तरहके परिणाम अपने-अपने तरीकेसे हमको बाँधेंगे भी।

अनित्य संसारके साथ जुड़े रहनेपर मुक्तिका तो प्रश्न ही नहीं उठता। मुक्ति नित्य है, उसके लिए नित्यके साथ ही जुड़ना होगा।

प्रेमका रस कभी नहीं सूखता। आप संसारसे प्रेम करने लगिये। प्रेममें आनन्द है। प्रेममें मुक्ति है। हृदयकी मुक्तावस्था व्यवहारके धरातलपर प्रेममें है और आन्तरिक धरातलपर कृष्णके प्रति आसक्त हो जानेमें है। *(सावशेष)*

आत्मानन्दकी अनुभूति करानेवाला पर्व गुरुपूर्णिमा

डॉ० अजय कुमार आचार्य

गुरुपूर्णिमाका पर्व आषाढ़ मासके शुक्ल पक्षमें पूर्णिमाके दिन सारे भारतमें अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिके साथ मनाया जाता है। इस दिन सभी धर्मोंके अनुयायी अपनी-अपनी रीति-रिवाजोंके अनुसार धार्मिक अवस्थामें डूबकर मनाते हैं। अपने गुरुजनका विधि-विधानसे पूजन करते हैं। गुरुपूर्णिमाका पूजन देवताओंकी पूजाके समान है। गुरुदेवकी पूजाके लिए उस दिन प्रात: स्नान, ध्यान आदि करके विधिवत् पूजा अर्चना हेतु नैवेद्य, पुष्प, वस्त्र, दक्षिणा आदिके द्वारा गुरुकी पूजा की जाती है। श्रद्धापूर्वक पूजा करके गुरुका आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है। गुरु जीवनको कल्याणके मार्गपर ले जाकर परम ज्ञान प्रदान करनेवाला तथा मनको शान्ति पहुँचानेवाला ज्योति-पुंज है।

भारतीय संस्कृतिमें पाँच तत्त्वोंकी अनन्यताकें सन्दर्भमें श्रीप्रणव तत्त्व, श्रीगायत्री तत्त्व, श्रीगुरु तत्त्व, श्रीशक्ति तत्त्व तथा श्रीमंत्र तत्त्वोंको विशेष महत्त्व दिया गया है। विष्णु धर्मसूत्रमें माता-पिता और गुरुको समान रूपसे बराबर सम्मान देनेकी बात कही गयी है, साथ ही मातृ गुरु, पितृ गुरु और विद्या गुरुके लक्षण तथा कर्त्तव्योंका स्वरूप भी स्पष्ट किया है। महानारायणोपनिषद्में गुरुको ब्रह्मा, विष्णु और शिवका साक्षात् स्वरूप कहा गया है—

गुरु साक्षादिनारायण पुरुषः

धर्मग्रन्थोंमें कहा गया है कि अध्यात्म जगत्का मार्ग दिखलानेवाला संसारमें केवल गुरु ही है। वेद-पुराण सहित समस्त प्राचीन वाङ्मय गुरुकी महिमासे आप्लावित हैं। वेदोंके अनुसार गुरु ही है जो ईश्वरसे साक्षात्कार करानेमें समर्थ है और समस्त ज्ञानोंका स्रोत है।

वादरायण वेद व्यासने ब्रह्मसूत्रकी रचनाकर ब्रह्म, जीव और जगत्की अनुपम व्याख्या द्वारा ब्रह्मके स्वरूपका तत्त्व ज्ञान लोकके समक्ष रखा तभीसे गुरुकी गद्दी व्यासपीठ कहलाने लगी। कालान्तरमें वह पीठ पूज्य हो गया जो आजतक व्यास गद्दी या व्यासपीठके रूपमें लोक पूजित है। व्यास पीठपर बैठनेवाले तत्त्वज्ञानी गुरुओंने सदैव लोकको नि:स्पृह रूपसे सदाचरणकी शिक्षा दी है। गुरुकी इसी महिमा और सम्मानके कारण लोग गुरुपूर्णिमाको व्यास पूर्णिमा भी कहते हैं।

गुरुका पद प्राप्त करनेके लिए मनुष्यको लम्बी तपस्या और साधना करनी पड़ती थी। उसे सांसारिक वैभव और विलासका परित्याग कर एक कठोर तपस्वी जीवन जीकर स्वयंको उस पदके अनुकूल बनाना पड़ता था। एक युग था जब गुरुओंसे शिक्षा प्राप्त करनेके लिए भारतमें तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला तथा बल भी जैसे गुरुकुलोंकी स्थापना की गयी थी जहाँपर भारतके विभिन्न राज्योंके छात्र दक्ष गुरुओंके चरणोंमें बैठकर उनके ज्ञानोपदेशोंके अमृतसे अपने जीवन-व्यक्तित्व और आत्माको संस्कारितकर प्रांजल बनाते थे। प्रख्यात अर्थ शास्त्री कौटिल्य उसी गुरुकूल परम्पराके एक महान् मनीषी थे जिन्होंने अपनी प्रखर मेधाके चमत्कारसे पूरे आर्यावर्तमें तहलका मचा दिया था।

आजके इस पश्चिमीकरणके दौरमें जब फादर्स-डे, मदर्स-डे, वैलेण्टाइन डे आदि बड़े शोर-शराबेके साथ मनाये जा रहे हैं, ऐसेमें गुरु-पूर्णिमा पर्व मन-शरीर-प्राणको चन्द्रमाकी चाँदनीकी तरह आत्मानन्दकी अनुभूतिं करानेवाला तथा ज्ञानकी ज्योति जलानेवाला है क्योंकि भारत आदिकालसे विश्व-गुरु तथा अध्यात्मके क्षेत्रमें सबका गुरु रहा है। अत: सर्व पर्वों एवं दिवसोंका शिरोमणि है 'गुरु-पूर्णिमा' क्योंकि यह मनुष्य मनुष्यत्व और उसकी आत्माके पूर्णत्वका अहसास कराता है तथा जीवनके परम लक्ष्यको प्राप्त कराता है। ☆

अरे, कोई आदमी भी तो बनाओ!

डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी

इस दुनियामें तमाम लोग ऐसे हैं जो दूसरोंको बनानेके चक्करमें पड़े रहते हैं। अपना ढेंढर नहीं निहारते आन (दूसरों)की फुल्ली जरूर देखते हैं। कब कौन किसको क्या बना देगा! क्या पता? पहलेसे कुछ कहना मुश्किल है। यह 'बनाना' अभिधामें तो होता नहीं, लक्षणा-व्यञ्जनामें ही होता है। इस प्रकारकी लक्षणा-व्यञ्जनाका प्रयोग साहित्य महारथी विद्वान् आचार्य ही करते हों—ऐसी बात नहीं है। साहित्य-विच्छित्तिओंका ककहरा न जाननेवाले अपढ़, निपट गँवार भी इनका ऐसा प्रयोग करते हैं कि सुनकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है—देखनमें बउरहिया आवै पाँचों पीर! बनानेके ऐसे प्रयोग व्यक्ति और विशेषकके परस्पर समान प्रकृति, स्वभाव, गुण, दोषके आधारपर ही प्रचलित हैं। और, प्रयोक्ता, चाहे जो भी हो या न हो, सहृदय अवश्य होता है।

पहले प्राइमरी-मिडिल स्कूलोंके गुरुजन प्राय: अपने छात्रोंको 'मुर्गा' बना दिया करते थे। खौफ इतना होता था कि क्या मजाल जो विद्यार्थी अपने घर जाकर तनिक भी इसकी चर्चा करे। अब न वे गुरुजन रहे, न वे प्राइमरी मिडिल स्कूल रहे और न वह पढ़ाई ही रही। अब अध्यापकोंकी न तो हैसियत और न ही हिम्मत रही कि अपने विद्यार्थियोंको सुधारें। अगर किसीने भूलसे किसी विद्यार्थीको आँख भी दिखायी तो अभिभावक उसकी आँख निकालनेके लिए चढ़ बैठते हैं। हाँ, अब यह मुर्गा बनानेकी कला गुरुजनोंसे हटकर पुलिसवालोंके पास पहुँच गयी है। कोई 'मुर्गा' फँसा नहीं कि उन्हें उसे 'मुर्गा' बनाते देर नहीं लगती और वह बेचारा कितना भी 'कु कुहूँ कूँ' करे, किसी भी अधिकारीके कानपर जूँ रेंगनेसे रही।

न जाने आदमीको 'गधा' बनाते कितने युग बीत गये। जिसे देखो, वही दूसरोंको गधा बनाता फिरता है। जैसे बाजारों और विज्ञापनोंमें लिखा मिलता है—'अमुककी एकमात्र दुकान', उसी तरह हर इंसान अपनेको सबसे बढ़कर समझदार समझता है। और बाकी सबको बेवकूफ अर्थात् गदहा (गधा)। 'गधा' माने वह जो निहायत बेवकूफ, गँवार और सीधा-सादा है, जिसमें अक्ल नामकी कोई चीज नहीं और जिसका काम केवल धोबीकी लादी ही ढोना है और लीद करके उसीमें खड़ा रहना है। 'गधे कहीं के!' 'पूरे गधे हो!' 'पक्का गदहा' इत्यादिसे न जाने कितने लोग प्रतिदिन बखाने जाते हैं। खच्चर भी गधेकी ही बिरादरीका है। कभी-कभी धीमी गतिसे काम करनेवाला 'खच्चर' बना दिया जाता है।

जिन अर्थोंमें आदमीको गधा बनाया जाता है, लगभग उसी अर्थमें आदमी 'बैल' भी बनता है। अन्तर थोड़ा ही है कि गधा कभी-कभी दुलत्ती झाड़ता है तो बैल कभी-कभी सींग गड़ाता है, हौंफ देता है। 'गौर्बाहीक:' कहकर संस्कृतके आचार्योंने उसका सादर स्मरण किया और बैलकी जड़ता मन्दता सहज ही उनकी दृष्टिको प्रभावित कर गयी। कुछ और आदर बढ़ा तो 'बछियाके ताऊ' और 'महादेवकी सवारी' बना दिये गये।

शीतलाजी और शिवजीकी सवारीके बाद इसी सन्दर्भ क्रममें लक्ष्मीजीकी सवारी भी खड़ी है। जिसे मूर्ख कहना होता है, लोग झटसे उसे 'उल्लू' बना देते हैं। केवल उल्लूसे संतोष नहीं होता तो उस मल्लूको 'उल्लूका पट्ठा' करार देते हैं। 'जथा उलूकहि तमपर नेहा'—उल्लूको अन्धकार प्रिय है। अत: तम अर्थात् अज्ञानका प्रतीक 'उल्लू' बन गया। इस तरह किसीको 'उल्लू' बनाते देर नहीं लगती।

अगर किसीके काले रंग रूपसे मिलान करना हो तो लोग उसे 'कौवा' बना देते हैं। कौवा अपनी काँव-काँवके कारण अत्यन्त उपेक्षित पक्षी है किन्तु श्राद्ध पक्ष (पितृ-पक्ष)में उसका बड़ा सम्मान होता है। परीक्षाके दिनोंमें अक्सर अध्यापकगण श्राद्ध पक्षके कौवे बन जाते हैं। कौवा सयाना भी बहुत होता है। उसके सयानेपनके किस्से बड़े मशहूर हैं। इसलिए यदि किसीके लिए कहा जाय कि 'यह बड़ा कौवा है' तो समझ लीजिए कि वह अपनेको बड़ा सयाना मानता है।

भारी भरकम शरीरवालागिद्ध पक्षी बड़ा 'दृष्टि सिद्ध' होता है—गीदहि दृष्टि अपार।' वह बड़ी दूरतक देखता है और छोटी वस्तुको भी नजदीककी ही तरह देखता है और दृष्टि जमाकर देखता है। इसलिए लोकमें 'गृध्रदृष्टि' (गिद्ध-दृष्टि) प्रसिद्ध है। किसी भी चीजपर नजर गड़ा देनेवालेको सहज ही 'गिद्ध'की संज्ञासे विभूषितकर दिया जाता है। इसी आधारपर गाँवोंमें लोग कहते हैं कि 'फलाँ अमुक चीजका बड़ा गिथवा बाटे।' गिद्ध पक्षीकी यह विशेषता सुनी जाती है कि यदि गिद्ध किसी हरे वृक्षपर बैठने लगते हैं तो वह शीघ्र ही सूख जाता है। अतः किसीका सर्वनाश करनेवाला आदमी भी गिद्ध कहा जाता है।

आपने सुना होगा कि अमुक आदमी अमुक आदमीका 'तोता' है। तोतेको जो भी सिखा दिया जाय, वह बराबर वही रटता है। इस प्रकार दूसरोंके 'माउथ पीस' आदमीको तोता कहा जाता है। कभी-कभी अनावश्यक बोलनेवाला व्यक्ति झिड़की खाता है—'क्या तोतेकी तरह टें-टें करते हो?' कुछ लोगोंको नाम सचमुच ही तोता राम होता है।

बगुला-भगतको भला कौन नहीं जानता? छिछले पानीमें एक टाँगपर खड़ा, मासूम सूरत बनाये, शान्त लम्बी चोंचवाला सफेद पक्षी बगुला एकदम इष्टदेवके ध्यानमें लीन भक्तकी तरह लगता है। लेकिन ज्यों ही छोटी मछली पानीके बाहर उछली, बिजलीकी फुर्तीसे सधी चोंचसे उसे गपकनेमें देर नहीं लगती। जो आदमी साधु वेशमें कपट व्यवहार करता है, उसे लोग 'बगुला-भगत' बना देते हैं। इस समय संसारमें बगुला भगतोंकी कमी नहीं है।

किसी भी काले-कलूटे भारी शरीरवाले आदमीको 'हाथी' बना देना आम बात है। एक आदमीकी नाक कुछअधिक ही लम्बी थी। अक्सर लड़के उसे 'हाथी' कहकर चिढ़ाते थे। मस्तचाल बाला भी आदमी कभी-कभी हाथी कहा जाता है।

कभी कभार आदमी ऊँट भी बन जाता है। हमारे एक बुजुर्ग किसी व्यक्ति-विशेषके लिए कहते थे—'यह आदमी पूरा ऊँट है, ऊँट! जहाँ देखो, गर्दन उठाये पहुँचा ही रहता है। ऊँटकी सबसे बड़ी विशेषता' होती है कि वह मरुस्थलमें कई-कई दिनतक बिना कुछ खाये-पीये भी चलता रहता है। इस तरह काम करनेवालोंको भी ऊँट कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, ऊँट फूलों-फूलोंसे लदे उपवनमें जाकर काँटे ही खोजता है। अतः सद्गुणोंको छोड़कर दुर्गुणों अथवा काँटों (अवरोधक, पीडक तत्त्वों)को खोजनेवाले मनुष्य भी ऊँट बन जाते हैं।

तिरस्कार करनेके लिए किसी आदमीको 'कुत्ता' कह देना बड़ी सामान्य-सी बात है। स्वामिभक्तिका अद्भुत उदाहरण कुत्ता, जगह-जगह मुँह मारनेकी गन्दी आदतके कारण ही तिरस्कृत होता है। इस प्रकारकी बुरी आदतवाला आदमी कुत्ता कहा जाता है। इसके अतिरिक्त चाटुकार मनुष्यको भी लोग कुत्ता बना देते हैं क्योंकि वह रोटीके एक टुकड़ेके लिए किसीके भी सामने बैठकर देरतक पूँछ हिला सकता है। आपने सुना ही होगा—'धोबीका कुत्ता न घरका न घाटका।'

जिस आदमीको 'सुअर' या 'सुअरका बच्चा' बनाया जाय, समझिये कि वह निहायत गन्दे किस्मका बेशऊर आदमी होगा। किसीकी जड़ खोंदनेवाले आदमीको भी सुअर कहा जा सकता है। जिनमें अपना विवेक बिलकुल नहीं होता और जो सर्वथा गतानुगतिक होते हैं, उन आदमियोंको 'भेंड़' कहा जाता है। जो

किसीके प्रेम या मोहमें अन्धे होकर एकमात्र उसीके वंशमें हो जाते हैं ऐसे आदमी 'भेंड़ा' कहे जाते हैं।

रँगा सियार कहीं आपने देखा है? मैंने एक पुरानी कहानीमें रँगे सियारका किस्सा पढ़ा है। सियार और लोमड़ी वैसे भी मक्कार किस्मके जानवर होते हैं। अत: वेश बदल कर मक्कारी और धूर्तता करने वालोंको रँगा सियार कहा जाता है। ऐसे लोग आसानीसे न तो पहचाने जाते हैं और न ही पकड़में आते हैं।

गिरगिट रंग बदलनेमें माहिर होता है। जो आदमी कभी यह और कभी वह होता रहता है, अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिए अपने व्यक्तित्वको परिवर्तित करता रहता है, उस आदमीको गिरगिट कहा जाता है। हाई स्कूलमें हमारा एक सहपाठी था। अक्सर बच्चे उसे 'चुहिया' कहकर चिढ़ाया करते थे। छोटे कदका होनेके साथ ही चञ्चल भी था। मेरे एक कक्षाध्यापक अक्सर लड़कोंपर बिगड़ते थे तो 'पाजामेका नेऊर' कहते-थे। नेऊर (नेवला) पाजामे। ईंटका जमीनके ऊपर लगा भट्ठा) के अन्दर अगर अपना घर बनाता है तो बाहर निकलेके पहले झाँककर आहट लेता है। फिर वह बाहर निकलनेके बाद तेज चलता हुआ थोड़ी-थोड़ी दूरपर पिछले दोनों पैरोंके बल खड़ा होकर ताक-झाँक करके फिर आगे बढ़ता है। वह भीरु किस्मका जन्तु है। लड़कोंकी भीरुता और उनकी आँखोंकी भंगिमा देखकर ही वे अध्यापक बच्चोंको 'पाजामेका नेऊर' कहते रहे होंगे।

मैं एक 'मेढक गुरु'को ज़नाता हूँ। विधाताने उन्हें गर्दन दी ही नहीं। वे कद छोटा होनेके नाते उचक कर चलते भी हैं। अपनी बातोंसे मर्मको चोट पहुँचानेवाले 'बिच्छू' भी आपको मिल जायेंगे और दो मुँहे साँप तो दो टाँगोंपर इधर-उधर टहलते ही रहते हैं। साँप भी केचुल छोड़ता है और उसकी तरह चोला बदलनेवाले लोग भी हैं। मेरी चाची एक सज्जनको कहती थीं कि यह ऐसा करइत (करैत) नाग है कि इसका काटा पानी भी नहीं माँगता।

बहुत उछल कूद करनेवाले आदमीको 'बन्दर' कहा जाता है। अक्सर बच्चोंको बन्दरकी संज्ञा दी जाती है। 'बन्दर घुड़की' लोकमें प्रसिद्ध ही है। आस्ट्रेलियाके क्रिकेट खिलाड़ियोंको 'कंगारू' कहा जाता है। 'कछुआ चाल' प्रसिद्ध है। सुस्त चलनेवाले और दीर्घसूत्रीको 'कछुआ' कहा जाता है। आप 'कछुआ धर्म' के बारेमें जानते होंगे। तनिक भी खतरा भाँपकर कछुआ अपनी गर्दन और चारों पैर अपनी खोलमें समेट लेता है। फिर तो कछुयेकी पीठपर वज्र भी गिर जाय तो कोई फर्क नहीं। अत: भीरु लोगोंको भी कछुआ कहा जाता है। सांख्यदर्शनमें 'प्रकृति' से सृष्टिको समझानेके लिए कछुएका उदाहरण प्रसिद्ध है। जिनको हया-शर्म नहीं, तीखी बात भी नहीं लगती, वे मोटी खाल (चमड़ी) वाले आदमी 'गैंडा' कहे जाते हैं।

'आओ, मेरे शेर!' कहकर यदि किसीका स्वागत किया जाय तो समझिये कि वह बहुत दिलेर और बहादुर किस्मका इंसान है। 'सिंहो माणवक:' प्रयोग हमारे साहित्यमें खूब मिलता है। 'यह आदमी नहीं शेर है' कहकर उस आदमीके शौर्य-क्रौर्यका गुणगान किया जाता है।

आदमी भी मच्छर, मक्खी, खटमल और जोंक हो सकता है क्या? गन्दे आदमी जो किसीके आसपास घूमते-टहलते रहते हैं, मक्खी-मच्छरकी तरह भिनभिनाते हुए कहे जाते हैं। समाजके शोषक, सूदखोर आदमी खटमल और जोंकके रूपमें सम्बोधित किये जाते हैं। जोंक बहुत भयङ्कर होता है, शरीरसे ऐसा चिपक कर धँसकर खून चूसते हैं कि आसानीसे नहीं छोड़ते। यदि बलपूर्वक उन्हें खींचा जाय तो उनका मुँह टूटकर अन्दर ही धँसा रह जाता है। उन्हें शरीरसे छुड़ानेके लिए वहाँ नमककी डली लगानी पड़ती है। जोंक और खटमल, दोनों ही रक्तचूषक हैं किन्तु दोनोंमें फर्क है। खटमल चोर है और जोंक डकैत।

स्त्रियोंके लिए भी इस जगत्में कुछ विशिष्ट प्रयोग हैं। घर-घर छु-छआनेवाली, जगह-जगह मुँह

मारनेवाली, चोरीसे दबे पाँव चलनेवाली स्त्रियोंको बिल्ली कहा जाता है। भेद खुल जानेपर लज्जित होकर वहाँसे खिसकते हुए व्यक्तिको भींगी बिल्ली कहा जाता है। लुक-छिपकर किसीकी बात सुननेवाली स्त्री 'छिपकली' कही जाती है। मुटल्ली और भद्दी स्त्रियोंके लिए 'भैंस'की संज्ञा दी जाती है। वैसे 'राजमहिषी'का अर्थ 'पटरानी' या 'महारानी' होता है जो अत्यन्त सम्मानित शब्द है।

इस क्षेत्रमें 'भँवरा' (भौंरा=भ्रमर) और 'तितली'का भी दख़ल है। ये दोनों शृङ्गार रससे सम्बन्ध रखते हैं और सौन्दर्यकी चाह वाले होते हैं। कामुक या दिल फेंक किस्मके इन्सान 'भँवरा' होते हैं और नाज-नखरेवाली चपल युवतियाँ 'तितली' कही जाती हैं।

लोगोंने एक ओर आदमीको पशु-पक्षी-कीट योनिका प्राणी बनाया तो दूसरी ओर उसे देव योनिमें भी पहुँचाया। अगर किसीकी धर्मपत्नी अपने पतिदेवको 'माटीका माधो' कहे तो आप उसे क्या समझेंगे। जो दुनियादारीसे बहुत दूर, निहायत मासूम किस्मका इंसान है। वही अगर 'गोबरगनेस' कहा जाय तो सभी लोग उसे निरा बेवकूफ ही मानेंगे। 'महादेव' भी कुछ ऐसा ही सम्बोधन है। हाँ, 'गणेशजी' कहनेसे कुछ सम्मान तो प्रकट हुआ किन्तु उसकी बटन जैसी आँखें और इलाहाबादी अमरूद जैसा पेट जरूर आँखोंके सामने आगया।

मुझे हैरानी होती है कि आदमी इतने तमाम रूपोंमें विराजता है किन्तु 'स्वरूप'में क्यों नहीं विराजता? आदमी और कुछ हो या न हो, उसे आदमी तो होना चाहिए। लोग आदमीको न जाने क्या-क्या बना रहे हैं, अरे, कोई आदमीको आदमी भी तो बनाओ। बड़ा मुश्किल काम है यह। जिस दिन आदमी-आदमी बन जायेगा, उस दिन सचमुच इस धरतीपर स्वर्ग उतर आयेगा। अगर कोई किसीको 'भले आदमी!' या 'भले मानुस' कहकर सम्बोधित करता है तो निश्चय ही वह आदमी नहीं देवता है।

☆

साधन दृष्टि

अच्छा, तो फिर इस आत्माका ज्ञान होवे कैसे?

इसको जानें कैसे?

कि अरे भाई, किसीको दो हीरा पहचानना हो और वह दोनों को सामने रखले, तो जबतक दोनोंको देखेगा तबतक दोनोंको कैसे पहचानेगा?

जब एक को गौरसे देखेगा, तब एकको पहचान जायेगा और दूसरेको गौरसे देखेगा, तब दूसरेको पहचान जायेगा।

एक साथ दो उँगुली भी नही दिखती और तुम एक साथ ब्रह्म और प्रपञ्च दोनोंको पहचानना चाहते हो?

प्रपञ्च से दृष्टि हटाओ तब ब्रह्मकी पहचान हो और जब ब्रह्मकी पहचान हो जाय तब प्रपञ्च क्या है यह मालूम पड़ जायेगा क्योंकि यह तो फलदृष्टि है, साधन दृष्टि नहीं। साधन दृष्टि यह है कि प्रपञ्च परसे दृष्टि हटाओ और ब्रह्मको पकड़ो।

—महाराजश्री

अष्टावक्र गीता

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री : सुश्री डॉ. लीना ग्रोवर

(पूर्वानुवृत्त, जून 2005)

आपको पहले एक बात अलगसे सुनाते हैं। आप अपनेको द्रष्टा या ब्रह्म जानते हैं, तो आप खाना-पीना तो नहीं छोड़ते हैं। आना-जाना तो नहीं छोड़ते हैं। अपना जो पारिवारिक व्यवहार, है उसका तो परित्याग नहीं करते हैं। जब कोई संन्यासी भी अपनेको द्रष्टा या ब्रह्म जान लेता है, तब वह कोई भिक्षा माँगना कि भोजन करना तो नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार, जो आपका धर्म सम्बन्धी और भक्ति-सम्बन्धी व्यवहार है, वह आपको नहीं छोड़ना चाहिए भला! रोज सबेरे उठकर जो अपने नित्यकर्म हैं, उनको ठीक-ठीक करना चाहिए। सूर्यको नमस्कार करना चाहिए। वह प्रकाशका देवता है। आपकी आँखोंको रोशनी देता है। अपने माता-पिताको प्रणाम कीजिये। उन्होंने आपको शरीर दिया। अपने गुरुजीको नमस्कार कीजिये। उन्होंने आपको ज्ञान दिया।

अपनेको द्रष्टा और ब्रह्म जाननेका यह मतलब नहीं है कि छाती तन जाये कि अब मैं किसीको नमस्कार ही नहीं करूँगा। आपके जीवनकी जो मर्यादायें हैं, उनका उल्लंघन मत कीजिये। इससे आपमें सद्गुण बने रहेंगे, विनय बना रहेगा, उदारता बनी रहेगी। आपके पास पैसा है, तो दान कीजिये। आपके पास श्रद्धा-भक्ति है, तो भगवान्की पूजा कीजिये—माला फेरिये। आप दूकानपर जाकर व्यापारमें झूठ बोलते हैं— बेईमानी करते हैं, तब तो आपके द्रष्टापनमें कोई फर्क नहीं पड़ता है और कहते हो कि अब तो हमको पूजा-पत्री, सन्ध्या-वन्दन, अग्निहोत्र करनेकी क्या जरूरत है? वह तो आपका पारिवारिक व्यवहार है। जैसे आपके परिवारमें माता-पिता हैं, पति-पत्नी हैं, वैसे आपके परिवारमें भगवान् भी हैं। राम भी हैं, कृष्ण भी हैं, शिव भी हैं, विष्णु भी हैं। वह तो आपके परिवारके देवता हैं। रोज नमस्कार करना, पूजा करना, भगवान्का नाम लेना, सन्ध्या-वन्दन करना, होम करना। उसको छोड़नेसे आप ब्रह्म हो जायेंगे—द्रष्टा हो जायेंगे या उसको करनेसे आपके द्रष्टापन-ब्रह्मपनामें कोई फरक पड़ जायेगा— यह सोचना बिलकुल गलत है।

रोज थोड़ा-सा समय अपने नित्यकर्मके लिए निकालना चाहिए। पवित्र होकर प्रतिदिन थोड़ा समय नित्यकर्म करना चाहिए। आप थोड़े दिन करके देखो, तब मालूम पड़ेगा। सूर्यमण्डल चमाचम चमक रहा है। उसमें आपके गुरुजी बैठे हैं। उनके चरणोंका अमृत आपके शरीरपर गिर रहा है। आपके ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश कर रहा है। भीतर रग-रग पवित्र हो जाती है। बाहर रोम-रोम पवित्र हो जाता है। अबसे पहलेके जितने पाप-ताप हैं, उस अमृतकी धारामें शुद्ध हो जाते हैं। आप थोड़ी देर बैठकर भगवान्का चिन्तन कीजिये। वेदान्त ज्ञानका यह अर्थ नहीं होता है कि आप चाहे जो खायें-पियें और चाहे जैसे रहें। स्वच्छन्द-उच्छृंखल आचरण वेदान्तका अर्थ नहीं है।

हमारे कई सज्जन जो हैं न, उन्होंने कहा कि अब बड़े-बूढ़ोंका जमाना गया। अब तो वह हमारे चेले बननेवाले हैं। यह जो नौजवान हैं न, युवक हैं, युवती हैं, तरुण हैं, इनको जरा सेक्सकी बात समझावें, तो वह सेक्समें ब्रह्मज्ञानका अनुभव करेंगे। उनको खींचनेके लिए हो! अब जैसा युग होता है, वैसी बात बोलनी पड़ती है। आप अपनेको बिलकुल ठीक-ठीक रखिये। मर्यादाके अनुसार जप भी कीजिये, पूजा भी कीजिये, पाठ भी कीजिये। अपने व्यापारके समान, अपने पारिवारिक जीवनके समान गुरु और देवताको भी नमस्कार कीजिये। वह आपका पारिवारिक जीवन है।

अब यह कहो कि हम अपनेको ब्रह्म इसलिए

कहते हैं कि गुरु-वेद-शास्त्र-सत्सम्प्रदायके अनुसार हमको ब्रह्म बताया गया है, तो बहुत बढ़िया बात है। एक महात्मासे किसीने कहा कि तुम अपनेको ब्रह्म क्यों कहते हो? महात्माने कहा कि अच्छा! यह बताओ कि तुम अपनेको हिन्दू क्यों कहते हो? उसने कहा कि महाराज! हमको लोगोंने बताया है कि हम हिन्दू हैं। अच्छा! यह अपनेको ब्राह्मण क्यों कहते हो? बोले—महाराज! हमको लोगोंने बताया है कि हम ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणत्व प्रत्यक्ष नहीं है हो। आँखसे ब्राह्मणपना नहीं दिखता है। मनमें कल्पना ही होती है—ब्राह्मणपने की। अच्छा! हमारा नाम मोहन है-सोहन हैं—ऐसा तुम क्यों कहते हो? महाराज! लोगोंने मेरा नाम रख छोड़ा है। अच्छा! मैं पति हूँ-मैं पत्नी हूँ। तुम यह क्यों बोलते हो! एक बात बताओ। ऐसा क्यों है? अभी तो हम आपको यह कहते हैं कि हम मानते हैं कि आपको आत्माका साक्षात्कार नहीं हुआ। हम मानते हैं कि आपको ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हुआ है। भाई मेरे! आप गुरु-वेद-शास्त्र-सत्सम्प्रदायके अनुसार बतायी हुई बातको मानकर ही क्यों नहीं कहते कि मैं ब्रह्म हूँ। अहं ब्रह्मास्मि। जब लोगोंके बतानेपर अपनेको अमुक-तमुक-ढ़मक मानते हो—कहते हो माने मोहन ब्राह्मण-हिन्दू इत्यादि मानते हो—कहते हो तब गुरु-शास्त्रके बतानेपर कि तुम ब्रह्म हो—तत्त्वमसि, अपनेको ब्रह्म क्यों नहीं मानते हो और कहते हो? मानोगे तो जानोगे। मान लो कि मैं ब्रह्म हूँ। जानोगे कि मैं ब्रह्म हूँ।

आप अपनेको ब्रह्म क्यों कहते हो? आप अपनेको मनुष्य क्यों कहते हो? हम मनुष्य हैं, जानते हैं, इसलिए, अपनेको मनुष्य कहते हैं। हम ब्रह्म हैं, हम जानते हैं, इसलिए, अपनेको ब्रह्म कहते हैं। इसमें अभिमानकी कोई बात नहीं है। बल्कि मैं ब्रह्म हूँ— यह सच अभिमान है और मैं मनुष्य हूँ—यह झूठा अभिमान है, क्योंकि, पंचभूतमें मनुष्यपना तो कल्पित है।

अच्छा! आओ! पहले विवेक किया जाता है। तुम हड्डी-मांस-चामके पुतले हो? तुम साँस हो? तुम इच्छाओंके पुंज हो? तुम कर्त्ता हो? अच्छा! यह सारी बातें सुषुप्तिमें नहीं रहती हैं। गाढ़ी नींदमें यह सारी बातें नहीं रहती हैं। न हड्डी-मांस-चामका पता चलता है, न साँसका पता चलता है, न इच्छाओंका पता चलता है, न मैं कर्त्ता हूँ—इसका पता चलता है। सुषुप्तिमें केवल अज्ञान रहता है और दुःख वृत्ति और सुख वृत्ति—दोनोंका अभाव रहता है, परन्तु, अविषयरूप आत्म सुख रहता है। सुषुप्तिमें कोई विषय नहीं होता है हो! विश्राम होता है, परन्तु, वहाँ भी अज्ञानकी वृत्ति होती है।

अच्छा! यह आप छोटेसे हो—ऐसा आपको क्यों मालूम पड़ता है? छोटापना तो स्थानमें होता है न? आपको क्यों मालूम पड़ता है कि आप नन्हेसे हो? छोटा होना या बड़ा होना—यह स्थानमें होता है। स्थान तो तब मालूम पड़ता है, जब मन रहता है। मन नहीं रहता है, तो मालूम नहीं पड़ता है। मनके रहनेसे स्थान मालूम पड़ता है और मनके नहीं रहनेसे स्थान नहीं मालूम पड़ता है। स्थान मानसिक हुआ। जहाँ मन ही नहीं है, वहाँ तुम्हारे छोटे या बड़े होनेका सवाल कहाँ है? एक मिनट हुआ कि एक घण्टा हुआ—यह जब मन रहेगा, तब मालूम होगा। जब मन नहीं रहेगा, तो मालूम नही पड़ेगा। यह मानसिक हुआ न? देशमें जो खण्ड है, कालमें जो खण्ड है, वह मानसिक है। मनसे बनता है।

आप अपनेको पैदा होनेवाला और मरनेवाला क्यों मानते हो? बच्चा-जवान-बुड्ढा क्यों मानते हो? असलमें, जो चीज मालूम पड़ती है और जिसको मालूम पड़ती है, वह उस चीजसे अलग होता है। इसमें तीन बात कर लो। किताब मालूम पड़ती है और हमको मालूम पड़ती है, तो हम किताबसे अलग हुए न? हम किताब नहीं हैं, किताबके द्रष्टा हैं। आपको देश भी मालूम पड़ता है, इसलिए, आप देशसे अलग हैं—देशके द्रष्टा हैं। आपको काल मालूम पड़ता है, इसलिए आप कालसे अलग हैं—कालके द्रष्टा हैं। इसका नाम विवेक है। आपको वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं, तो आप वस्तुओंसे अलग हो। वस्तुओंके द्रष्टा हो। आपको शरीर मालूम पड़ता है, तो आप शरीरसे अलग हो। प्राणसे अलग हो। इच्छासे अलग हो। कर्त्तासे अलग हो। भोक्तासे अलग हो। अज्ञान भी आपको मालूम पड़ता है, तो आप अज्ञानसे भी अलग हो। *(सावशेष)*

आनन्द मुक्तावली

(प.पू. महाराजश्रीके ग्रन्थोंसे संकलित)

संकलनकर्त्री : श्रीमती वर्षाकिरण ठक्कर

★ तुम सत्यताके पुत्र हो। तुम्हारा स्वरूप सत्य है। इसलिए आत्मिक जीवन-रूप जीवित जलमें गोते लगाओ। निर्भय रहो। जीवनके सुख और दुःखोंसे ऊपर उठना सीखो। स्मरण रखो कि तुम आत्मा हो। तुम्हीं आत्मा हो। अन्तरतम प्रदेशमें जाओ। अनुभव करो कि तुम वक्तपान हो। अपने स्वभावके मूलमें जाओ। वहीं तुम्हें अनुभव होगा कि तुम अपने धार्मिक प्रयत्नमें सच्चे हो। यदि कुछ असफलता मिले तो कोई चिन्ता नहीं। भय और निर्बलता भौतिक हैं—यह जानो। ये दोनों शरीरसे, जो कि स्वप्नका घोंसला है, उत्पन्न होते हैं। तुम अपने तात्त्विक स्वभावमें मुक्त और निर्भय हो।

★ आत्माका स्वभाव दैवी है। मुक्ति लक्ष्य है। लक्ष्य अभी और यहीं है, इसके पश्चात् नहीं। उस महत्ताके अनुभवके लिए, कालको मिटानेके लिए, इन्द्रियोंकी छायाको मिटानेके लिए, जीवका लक्ष्य आत्मानुभव निश्चित है। तब काल मिट जाता है, भौतिक और नश्वर विचार अलग हो जाते हैं। प्रकाश जो कि जीवन है, सत्य जो कि शान्ति है—चमक उठता है। समस्त स्वप्न समाप्त हो जाते हैं। अनन्त अनुभवमें आत्मा एक हो जाता है।

★ तुम्हें जो मिलता है, उसपर बार-बार विचार करो। आत्माके एकान्तमें सब वस्तुओंके साथ व्यवहार करो। अपने ज्ञान तथा अनुभवकी इस प्रकार रक्षा करो जैसे चोर अपने धनकी रक्षा करता है। अपनेको सुरक्षित रखना चाहिए। जब कुछ समयके लिए मौनका अभ्यास कर लोगे, तो वह—जिससे तुम्हारा हृदय परिपूर्ण हो गया है, वह निकलेगा और तुम लोगोंके लिए कोष तथा महान् शक्ति हो जाओगे।

★ उदार बनो। अहङ्कार तथा अनुदारताके भावको समूल नष्ट कर दो। पूर्ण विश्वासके साथ अपनेको भगवान्को समर्पित कर दो। वह तुम्हारे समस्त मार्गोंको जानता है। उसकी बुद्धिमत्तामें विश्वास रखो। वह माता-पिताकी भाँति प्रेम करनेवाला है। तुम्हारे सुख-दुःखका वह साथी है। उसका अनुग्रह अनन्त है। तुम्हारे बार-बार पाप करनेपर भी वह क्षमा ही करता है।

★ गुरु और शिष्यके सम्बन्धसे भी बड़ा और घनिष्ठ कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता।

★ मौन संगीतमय है। यह अनिर्वचनीय शान्तिका स्रोत है। इस अनन्तमें एक भी सद्विचार, एक भी धार्मिक सदाकांक्षा विफल नहीं होती।

★ आत्मामें अहङ्कारका भाव नहीं है। यह अपरिमित, सनातन सदास्वतन्त्र, एक है—जिसमें किसी प्रकारका विभाग नहीं है।

★ सच्चा प्रेम मुक्तिकी-तथा अनन्तमें विलीन हो जानेकी तीव्र लगनमें निहित है। सच्चा प्रेम तो मौनके लिए तीव्र आकांक्षामें निहित है।

★ बहुत गहरेमें, अन्तःकरणके समुद्रमें, सत्य और बुद्धिमत्ताके अचल पर्वत हैं। इनके सामने त्रुटियाँ, अन्धकार और समस्त बुराइयाँ नष्ट हो जाती है।

★ आनन्दमय दृश्यकी दीपशिखाका एक भी अंश बुराईके सूक्ष्मतम संस्कारोंको भी पूर्णतया नष्ट कर देता है।

★

जब तब कामना तबतक ईश्वर दर्शन नहीं

ये चितने चोर-चमार, झूठे-सच्चे, ईमानदार-बेईमान, शत्रु-मित्र, पक्के-कच्चे जो कुछ मालूम पड़ते हैं सो सब अपना स्वरूप ही है, परमात्मा ही है। परन्तु सब परमात्मा है इसका दर्शन सबके लिए संभव नहीं है—क्योंकि उसको वह देख पाता है जो स्वार्थी नहीं होता है।

संसारमें सत्यके विपरीत ले जानेवाली कोई वस्तु यदि है तो वह कामना है। आदमी दुनियामें झूठ क्यों बोलता है? कि सोचता है कि अगर सच बोलेंगे तो हमारे मनके मुताबिक काम नहीं होगा—अपनी कामनापर जब चोट पड़ती दीखती है तब आदमी ईमानदारीसे और सत्यसे विचलित हो जाता है।

दो मित्र यात्रा कर रहे थे, रास्तेमें पड़ा बड़ा जंगल। कैसे रात बितायें? शेर बहुत थे वहाँ। तो दोनों पेड़पर चढ़ गये और दोनोंने यह तय किया कि बारी-बारीसे सो जायँ। तो जब एक सो गया तो नीचे आया शेर, उसने जगत्से कहा कि यह जो तेरी गोदमें सिर रखकर सोया है यह तेरा दुश्मन है, इसको तू ढकेल दे, मैं तुमको अपना खजाना दूँगा। वह बोला कि यह मेरे विश्वासपर सो रहा है, मैं ऐसा नहीं कर सकता। जब दूसरेकी बारी आयी तो शेर आया और शेरने फिर वही बात कही, तो वह आगया शेरकी बातोंमें और उसने उसे नीचे धकेल दिया। अब जब शेर उसको खाने चला तो वह बोला—हट-हट, छूना नहीं मुझको, अब हम तुम्हारे छूने लायक नहीं हैं। जब हमारे मित्रने हमारे साथ द्रोह किया मैं तो तभी मर गया। हमारा मित्र हमारी रक्षाका वादा करके टल गया, उसके सारे पुण्य जल गये और मेरे मित्रके पुण्य जल गये तो मेरे पुण्य भी जल गये। अब मैं किसी कामका नहीं हूँ। इतना सुनते ही शेरने उसे छोड़ दिया।

तो संसारके लोग लोभ, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, मोह क्यों करते हैं, कि कामनाके वश हीकर—और जो कामनाके वश हो गया उसकी पीठ ईश्वरकी ओर हो गयी और मुँह संसारकी ओर हो गया।

जिसको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए—दुनियाकी छोटी-छाटी चीजोंमें जिसकी कामना फँसी पड़ी है वह बार-बार वहीं-वहीं उत्पन्न होगा। शरीरका तो कुछ ठिकाना नहीं, आज रहे कल नहीं रहे। जब तुम्हारे साथ धर्म भी नहीं ईमान भी नहीं, ईश्वर भी नहीं—सबकी ओरसे तुमने पीठ फेर ली तो क्या! इस दुनियाके रिश्तेदार जायेंगे तुम्हारे साथ? ये कुर्सियाँ ले जाओगे साथ उठा करके! तो दृष्ट और अदृष्ट माने लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके बाह्य विषयोंसे जिसकी बुद्धि उपराम है, उसकी इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, मन निर्मल हो जाता है, अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। और तब वह देखता है कि आत्माका स्वरूप क्या विलक्षण है! पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, आना-जाना सबसे विलक्षण! परन्तु जबतक कामना होगी तबतक यह आत्मदर्शन नहीं होगा।

—महाराजश्री

पं० सं० 47926/84 समाचार पत्र अधि. R.P.A./Regd/AD-17/2003-05
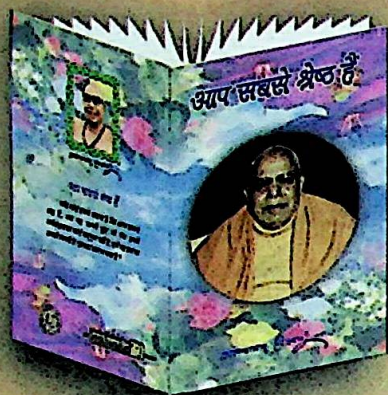
आप सबसे श्रेष्ठ हैं

प्रवचन : अनन्तश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
आकार (23×36=16) डबल डिमाई सोलह पेजी
पृष्ठ : 80, मूल्य रु० 20.00 (डाक व्यय अतिरिक्त)

यदि कोई हमसे कहता है कि आप सबसे श्रेष्ठ हैं, तब यह जानते हुए भी कि हममें सर्वश्रेष्ठताका कोई सद्गुण नहीं है, हमें यह प्रशंसा अच्छी लगती है। इसका कारण क्या है?

आनन्दानुभव

प्रवचन : अनन्तश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
आकार (23×36=16) डबल डिमाई सोलह पेजी
पृष्ठ : 64, मूल्य रु० 20.00 (डाक व्यय अतिरिक्त)

श्रीगुरुपूर्णिमा प्रतिवर्ष भक्तोंके लिए एक नूतन सन्देश लेकर आती है।

अध्यात्म जगत्के सूर्य सन्तशिरोमणि परमपूज्य महाराजश्रीके वेदान्त प्रधान विचारोंका संकलन-जिसमें कतिपय लेख, कतिपय प्रश्नोत्तर एवं छोटे-छोटे वाक्योंका चयन है इस 'आनन्दानुभव' नामक नन्हीं-सी पुस्तिकामें किया गया है। हमें विश्वास है कि अध्यात्म-मार्गके पथिक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

ग्रन्थकी प्राप्ति हेतु आप अपने आदेश निम्नमें-से किसी एक पते पर अपनी सुविधानुसार दे सकते हैं—

- सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, 'विपुल', 28/16बी. जी. खेर मार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006 ✆ (022) 23682055
- श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281121 ✆ (0565) 2540481, 2540487

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा-संस्थानके लिए सम्पादित प्रकाशित व आनन्दकानन प्रेस, टेढ़ीनीम, वाराणसीमें मुद्रित।